❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

भागवत-पत्रिका

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष १ | गौराब्द ४६९, मास—केशव १७, वार—गर्भोदशायी
शुक्रवार, ३० मार्गशीर्ष, सम्वत् २०१२, १६ दिसम्बर १९५५ | संख्या ७

श्रीश्रीप्रभुपादाष्टकम्

आनन्दसच्चिद्बलदेवमूर्त्तिर्ब्रह्माण्ड-सम्मण्डितशुद्धकीर्त्तिः ।
संसारसिन्धूत्तरणैकपोतः पश्येम किं तं प्रभुपादपद्मम् ॥१॥

प्रतप्तचामीकरगौररूपः सद्भक्तिसिद्धान्तविचारभूपः ।
श्रीवैष्णवाचार्यसमाजराजः पश्येम किं तं प्रभुपादपद्मम् ॥२॥

जो सच्चिदानन्द श्रीबलदेव-विग्रह हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें जिनकी अलौकिक विमल कीर्त्ति फैली हुई है और जो जीवोंको संसार-समुद्रसे उद्धार करनेके लिये नौकाके समान हैं, उन प्रभुके चरण-कमल क्या फिर हमारे नयनगोचर हो सकेंगे ? ॥१॥

जिनके शरीरका रङ्ग तपाये हुए स्वर्णके समान है, जो शुद्ध भक्ति-सिद्धान्तके विचारोंके सम्राट हैं, जो वैष्णव-आचार्योंके राजा हैं, उन प्रभुके चरण-कमल क्या फिर हमारे नयन-गोचर हो सकेंगे ? ॥२॥

गौड़ीयगोष्ठीगणप्राणबन्धुः
प्रपन्नदुःखार्त्तप्रसादसिन्धुः ।
वितण्डिपाषण्डिप्रचण्डदण्डः
पश्येम किं तं प्रभुपादपद्मम् ॥३॥

जो गौड़ीय भक्तोंके प्राणोंके बन्धु हैं, जो शरणागत दीन-दुखियोंके प्रति कृपाके समुद्र हैं, जो कुतार्किक-धर्मध्वजी-पाषण्डियोंके प्रति प्रचण्ड दण्ड विधान करनेवाले हैं, उन प्रभुके चरण-कमल क्या फिर हमारे नयनगोचर हो सकेंगे ? ॥३॥

श्रीराधिकाप्रेमतड़ागहंसो
हंसद्विजप्राज्ञकुलावतंसः ।
संकीर्त्तनप्रेममधुप्रमत्तः
पश्येम किं तं प्रभुपादपद्मम् ॥४॥

जो राधिकाके प्रेम-सरोवरके हंस हैं, जो परमहंस, विप्र और पण्डितोंके शिरोमणि हैं और जो नाम-संकीर्त्तनके प्रेमरूप मदका पान करनेमें प्रमत्त हैं, उन प्रभुके चरण-कमल क्या फिर हमारे नयनगोचर हो सकेंगे ? ॥४॥

चण्डालशूद्राधमभक्तिशन्दः
सर्वसहावंद्यपदारविन्दः ।
प्रेमाब्धिचन्द्रो भजनद्रुकन्दः
पश्येम किं तं प्रभुपादपद्मम् ॥५॥

जो चण्डाल और अधम शूद्रोंको भी भक्तिरूप मङ्गलको देने वाले हैं, जिनके चरणकमल समग्र जगत्के वन्दनीय हैं, जो प्रेम-सागरके चन्द्र हैं एवं जो भजनरूप वृक्षके मूल हैं, उन प्रभुके चरण-कमल क्या फिर हमारे नयनगोचर हो सकेंगे ? ॥५॥

गौराङ्गगोविन्दवरेण्यभक्तो
विशुद्धसद्धर्मप्रचाररक्तः ।
राधायशोगानसहस्रवक्त्रः
पश्येम किं तं प्रभुपादपद्मम् ॥६॥

जो गौरांग और गोविन्दके नित्य-सिद्ध प्रधान पार्षद हैं, जो विशुद्ध भक्ति-धर्मके प्रचारमें सर्वदा अनुरक्त हैं;जो श्रीमती राधिकाजीकी गुणावली वर्णन करनेमें सहस्रवदन हैं, उन प्रभुके चरण-कमल क्या फिर हमारे नयनगोचर हो सकेंगे ? ॥६॥

वेदान्तवेदाङ्गपुराणदक्षो
विखण्डितप्राज्ञकुतर्कलक्षः ।
शान्तप्रशान्तोपरतात्मनिष्ठः
पश्येम किं तं प्रभुपादपद्मम् ॥७॥

जो वेदान्त, वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण,छन्द, निरुक्त और ज्योतिःशास्त्र) और पुराणादि शास्त्रोंमें निपुण हैं, जो अपनेको पण्डित अभिमान करने वाले प्राकृत पण्डितोंके कुतर्क-राशिका खण्डन करनेवाले हैं, जो शमगुणसे युक्त, प्रशान्त, विषयोंसे विरक्त और परम आत्मनिष्ठ हैं, उन प्रभुके चरण-कमल क्या फिर हमारे नयनगोचर हो सकेंगे ? ॥७॥

हरेः कथायात-समस्तयामो
रोमाञ्चकम्पाश्रुमुदाभिरामः ।
श्रीधाममायापुरवासयत्नः
पश्येम किं तं प्रभुपादपद्मम् ॥८॥

जिनके आठों पहर हरिकथा वर्णनमें बीतते थे, जो हरिकथा कीर्त्तन करनेमें रोमाञ्च, कम्पाश्रु और हर्षादि आठ प्रकारके सात्विक विकारोंसे युक्त हो पड़ते थे, जो श्रीधाम मायापुरमें वास करनेमें परम आनन्दित होते थे, उन प्रभुके चरण-कमल क्या फिर हमारे नयनगोचर हो सकेंगे ? ॥८॥

हा क्वासि मत्प्राणप्रभो ! क्व गुप्तो
गौराख्य-दासस्तवदुःखतप्तः ।
प्रपन्नभक्तार्त्तिहरस्त्वमेव
द्रक्ष्यामि किं चन्द्रमुखं सकृत् ते ॥९॥

हा ! हा ! हमारे प्राणोंके बन्धु प्रभो ! आप कहाँ हैं ? अकस्मात् आप कहाँ छिप गये ? यह अधम दास आपके-विरह दुःखसे अनुतप्त हो रहा है । आप अपने शरणमें आये हुए भक्तोंके दुःखको एकमात्र दूर करने वाले हैं । अतएव आपका शरणगत मैं, क्या एकबार भी आपका वह चन्द्रवदन देख सकता हूँ ? ॥९॥

हे दीनबन्धो ! करुणैकसिन्धो !
कुरुप्रसादं ! मयि मन्दमूढ़े !
लक्षापराधे बहुपापगाढ़े !
तत्पादपद्मेऽस्तु मतिश्च कृष्णे ॥१०॥

हे दीनबन्धो ! हे गुरुदेव ! आपही केवल करुणाके सागर हैं, अतएव महामूर्ख बहुत बड़ा अपराधी और अनेक पापोंसे लदा हुआ मुझपर आप कृपा करें जिससे आपके करण-कमलोंमें तथा कृष्णके प्रति हमारी मति लगी रहे ॥१०॥

चन्द्रबाणवेदविमिते गौराब्दे सौरपौषस्य षष्ठवासरे
श्रीपाद गौरदास ब्रह्मचारी-काव्य-व्याकरणतीर्थेन विरचितम् ।

वैष्णव-वंश

कनिष्ठाधिकारी वैष्णव प्राकृत होते हैं

इस प्राकृत जगत्में हमलोग वैष्णवोंके तीन अधिकार देख पाते हैं—(१) कनिष्ठ, (२) मध्यम और (३) उत्तम । वस्तुतः समस्त चेतनमय पदार्थ ही कृष्णके दास हैं । जिन लोगोंमें कृष्ण-उन्मुखताका कोईभी लक्षण नहीं पाया जाता, साधारण लोग तथा कनिष्ठ और मध्यमाधिकारी वैष्णव उन्हें हरि-विमुख कहते हैं । किन्तु अवैष्णव होनेपर भी वे लोग विष्णुके दास हैं । वासुदेव सर्वभूतोंमें अधिष्ठित हैं । प्राकृत जगत्-की छोटी बड़ी सभी वस्तुओंमें विष्णुका अधिष्ठान नहीं रहनेसे उनका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता ।

वैष्णवोंके कनिष्ठ अधिकारमें हम देखते हैं कि वैष्णव लोग विश्वासके साथ विष्णुके श्रीविग्रहकी पूजा तो आरम्भ कर देते हैं, परन्तु विष्णुके सेवक वैष्णवोंके स्वरूप-उपलब्धिका उनमें अभाव रहता है । इसीलिये इस अधिकारमें स्थित रहनेवाले वैष्णवको श्रीमद्भागवतमें अप्राकृतकी संज्ञा देनेके बदले 'प्राकृत' कहा गया है ।

कनिष्ठ अधिकारियोंकी क्रमोन्नति

कनिष्ठ वैष्णवोंकी श्रद्धा अत्यन्त कोमल होती है । साथ-ही-साथ उनकी बुद्धि भी प्राकृत होती है । वे परम श्रद्धाके साथ भगवान्की सेवा करते-करते उनकी कृपा लाभ कर अपनी प्राकृत बुद्धिको धीरे-धीरे परित्याग करनेका अवसर प्राप्त करते हैं तथा उनकी श्रद्धा भी क्रमशः दृढ़तर होती जाती है । अन्याभिलाषा (भगवत् सेवाके अतिरिक्त अन्य कामना), सत्कर्मोंका अनुशीलन और यहाँतक कि निर्विशेष प्राकृत ज्ञानियोंके विचारों-को भी तुच्छ जानकर प्राकृत विषयोंसे उनका विराग उपस्थित हो जाता है । तब प्राकृत इन्द्रियों द्वारा की जानेवाली सारी चेष्टायें, उच्च कुलमें जन्म ग्रहण करनेका अभिमान तथा प्राकृत धनका अहंकार—ये सभी क्रमशः क्षय होने लगते हैं । जैसे घासमें रहनेवाली जोंक अपने अगले भागसे एक तृणको पकड़ती है, फिर पिछले भागसे पकड़े हुए स्थान या तृणको छोड़कर अगले भागसे पकड़े हुए तृणको पकड़ लेती है, फिर अगले भागको आगे बढ़ाती हुई आगे बढ़ती जाती है, उसी प्रकार प्राकृत वैष्णव अप्राकृत राज्यका अनुसंधान करते हुए अपना पिछला अधिकार

बदल देता है और उन्नत अधिकार-पथ पर अग्रसर होता है ।

वैष्णवका मध्यम अधिकार

प्राकृत अर्थात् कनिष्ठ वैष्णव श्रीमूर्त्तिका दर्शन करता है, पर उस समय उसका दर्शन जड़मय होता है। क्रमशः जब वह अप्राकृत अवस्थाका अनुसंधान करते करते अपने अधिकारमें उन्नतिकर मध्यम अधिकारमें पहुँच जाता है, तब हम देखते है कि कनिष्ठ अधिकारमें देखी जानेवाली श्रीमूर्त्ति उसके लिये उन्नत-दर्शनका विषय हो जाती है । उस समय वे श्रीमूर्त्तिको एक जड़मय वस्तु नहीं देखते, किन्तु उसी समय वे अपने अस्तित्वमें अप्राकृतकी एक तरल अवस्था (वह अवस्था जो दृढ़ नहीं हुई हो) लक्ष्य करते हैं और विभिन्न अधिकारमें स्थित भागवतोंका तारतम्य दर्शन करनेकी दृष्टि लाभ करते हैं । वैसी दृष्टि प्राप्तकर वे भगवत् अधिष्ठानोंमें प्रेम, कृष्ण भक्तों से मित्रता स्थापन करते हैं तथा कृष्णभक्तिका प्रचार कर वे अज्ञ लोगोंका उपकार एवं जो अप्राकृत वस्तुका विरोध करते हैं, उनका संग परित्याग करते हैं। इस समय उनके मार्गमें बहुतसी बाधाएँ उपस्थित होती हैं। वे कभी या तो मायावादी अहंग्रहोपासकोंके (अपनेको भगवान् कल्पना कर उपासना करनेवालों) द्वारा कुचले जाते हैं अथवा कभी मूर्ख सत्कर्मवादियोंके निन्दाका पात्र बनते हैं और कभी आहार-विहारमें मत्त रहनेवाले यथेच्छाचारी व्यक्तियोंके आक्रमणका विषय होते हैं।

मध्यम अधिकारीकी क्रमोन्नति

इन उपद्रवोंको वे धैर्यपूर्वक सहन करते हैं तथा भगवान्की कृपासे भागवत्-सेवासे विमुख नहीं होते। कोमल श्रद्धायुक्त कनिष्ठ अधिकारियोंके जैसे पतनकी संभावना सर्वदा बनी रहती है, मध्यम अधिकारीका स्थान उनकी अपेक्षा अधिक दृढ़ होनेके कारण हरि-विमुख लोग उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते । मध्यम अधिकारीके हृदय-क्षेत्रमें भगवान् बहुधा अधिष्ठित रहते हैं—इसे वे अनुभव कर सकते हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र (जीवोंके चित्तमें भक्तिकी प्रेरणा करनेवाले) चैत्यगुरुके रूपमें भक्तोंके हृदयमें प्रकाशित होकर उन्हें निज-जन जानकर आकर्षित करते हैं । मध्यम भागवत हरि-गुरु-वैष्णवकी कृपासे सम्पूर्ण अप्राकृत अनुभूति प्राप्त करते हैं । साधारण भाषामें इसको ही स्वरूप-सिद्धि कहते हैं।

वैष्णवोंका उन्नत अधिकार

ज्ञानी व्यक्ति जिन्हें जीवन-मुक्तकी संज्ञा देते हैं, उस शुद्ध अधिकारको वैष्णवोंकी भाषामें स्वरूप-सिद्धि अर्थात् अमिश्रित अप्राकृत अवस्था कहते हैं । इस अवस्थामें कृष्णकी सेवाके अतिरिक्त कोई भी दूसरी चेष्टा नहीं होती । सेवाके उपकरणोंको लेकर जो वाद-विवाद करते हैं, वे उन्नत अधिकारकी धारणा नहीं कर सकते । ॐ विष्णुपाद श्रीमद् गौरकिशोरदास बाबाजी महाराज व्रजमण्डल और गौड़-मण्डलमें एक प्रधान भक्त थे । इनके तीव्र वैराग्यकी सीमा न थी । वे सर्वदा युगल सेवा और नाम संकीर्त्तनमें मत्त रहा करते थे। वे महीनों तक एक ही मिट्टीके बर्त्तनमें खाते, कच्चे चावलोंको—जो भिक्षामें पाते—खा लेते। उन्हें पकानेके लिये समय कहाँ ? वे सहजिया लोगोंको उत्साह प्रदान किया करते थे। अब, यदि कोई व्यक्ति महाभागवतके उस उन्नत अधिकारमें पहुँचे बिना ही उक्त बाबाजीके बाहरी आचारोंका अनुकरण करे तो उसका मङ्गल होना तो दूर रहे, अमंगल होनेकी ही अधिक संभावना है । वह सार वस्तुको छोड़कर असारके लिये दौड़ता है। इस तरह जो अप्राकृतको छोड़कर प्राकृत विषयोंमें प्रमत्त होते हैं, वे किसी दिन भी महाभागवतोंकी क्रिया-कलाप समझने में समर्थ न हो सकेंगे । सेवाके उपकरणोंको अपने प्राकृत भोगोंके समान समझनेसे उन्हें अप्राकृतकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

वैष्णव-वंश और उसका व्यतिक्रम

उल्लिखित तीन प्रकारके वैष्णवोंका वंश इस जगत्में देखा जाता है । वंश कहनेसे केवल शौक्र-संतानोंको अर्थात् शुक्र द्वारा उत्पन्न वंश-परम्पराका ही बोध नहीं होता। वर्णाश्रम धर्म ग्रहण कर वैध-स्त्री-संग द्वारा पृथ्वीपर वंशकी उत्पत्ति होती है । किन्तु उसको ही केवल वंश निर्णय करनेके लिये एकमात्र धारावाहिक और विशुद्ध पद्धति नहीं कहा

जासकता। माता और पिताके संयोगसे संतानकी उत्पत्ति होती है। प्रत्येक पुरुषसे ही भिन्न-भिन्न स्त्रियोंके सहयोगसे संतान पैदा हो सकती है। अतएव शुद्ध पितृ-सत्ता पुत्र अथवा स्थूल शौक्र-वंशमें आरोप करना युक्ति-युक्त नहीं मालूम पड़ता है।

शौक्र-जन्म और माता-पिताके प्रति कर्त्तव्य

पिता-माता पुत्रका सर्व-प्रधान सेवक हैं। वे तरह-तरहके अनुष्ठानों द्वारा तन-मन-वचनसे संतानकी सेवा स्वेच्छापूर्वक किया करते हैं। इसी ऋणसे मुक्त होनेके लिये कृतज्ञ पुत्रका प्रधान कर्त्तव्य है—पिता-माताकी सेवा करना। पुत्र जन्म लेनेके साथ-ही-साथ माता-पिताकी सेवा करनेके योग्य नहीं होता। बहुत दिनके बाद पुत्रका निजत्व उपलब्धि होनेपर सेवा-धर्म प्रकाशित होता है। उस समय वे माता-पिताके उत्तराधिकारी-स्वरूप उनकी सेवाको अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते हैं। इसे ही शौक्र-वंश कहते हैं। इसमें माता-पिता द्वारा दिखलाये गये आचरणोंका ही असर पुत्रके चित्त पर प्रबल होता है।

सावित्र्य जन्म और आचार्यके प्रति कर्त्तव्य

हम जानते हैं कि शौक्र-जन्मके सिवा आचार्यके कुलमें जीवोंका द्वितीय जन्म भी होता है। द्वितीय जन्म होनेसे जीव, "जन्म एक ही बार होता है" इस भ्रान्त धारणाके हाथसे मुक्त होता है। इस समय आचार्य-कुलमें जीवका दूसरा जन्म होनेके कारण वे पहलेकी अपेक्षा सेवा-धर्मकी उपलब्धि अधिक मात्रामें करते हैं। माता-पिता सन्तानके जन्मसे लेकर आचार्यके घर जानेके पहले तक उसकी सेवा किया करते हैं। ज्ञान विकसित होनेके पहले ही पुत्रको आचार्य-कुलमें भेज दिया जाता है। अतः माता-पिता के प्रति वह अपना कर्त्तव्य-ज्ञान आचार्य-कुलमें सीखता है। आचार्य माता-पिताकी तरह संतानका सेवक नहीं होता। द्विज-संस्कार-प्राप्त संतान आचार्यके घरमें रहकर उनकी (आचार्यकी) बहुत कुछ सेवा करनेका सुयोग पाता है। आचार्यका सेवक, वह द्विज आचार्यके घरको अपना घर समझता है और उनके सभी द्रव्योंका सेवा-भार ग्रहण करता है।

वेदोंके दो उपदेश

द्विज, आचार्यके निकट वेदांगोंके साथ समस्त वेदशास्त्रोंका अध्ययन करते हैं। वेदोंमें दो तरहके उपदेश मिलते हैं। प्राकृत जगत्में शृङ्खला-पूर्वक सांसारिक अनित्य सुखादिके साथ जीवन निर्वाह एक तरहका उपदेश है। और नित्य परमार्थ-विद्यामें अधिकार प्राप्त करना दूसरा उपदेश है।

आचार्य अनित्य धर्मका याजक होनेसे शिष्यको कर्म या ज्ञानका उपदेश देते हैं और आचार्य स्मार्त न होकर परमार्थी होनेसे शिष्यको परम रहस्ययुक्त परमार्थ तत्त्वकी शिक्षा देते हैं। जो शिष्य प्राकृत रुचि-सम्पन्न होते हैं अर्थात् जड़ धर्ममें अनुरागी होते हैं, वे आचार्यके पास वैदिक अधिकार-से संसार-धर्मको ही मानव जीवनका फल समझते हैं। किन्तु परमार्थ-धर्मका ज्ञाता वेदके सुपक्व फल भागवत-धर्मकी शिक्षा देकर जीवको अनन्त जीवनके पथपर अग्रसर कराते हैं। वे नित्य जीवनका नैमित्तिक जीवन-से भेद समझा देते हैं। शिष्य क्षुद्र अर्थोंके लोभसे अथवा भोगोंकी लालसासे आचार्य-कुलसे समावर्त्तन* करता है तथा गृह-प्रवेश कर कर्मकाण्डके अनुष्ठानोंमें तत्पर हो जाता है। जो लोग प्राकृत अर्थको परमार्थकी तुलनामें अत्यन्त तुच्छ और अकिञ्चित्कर जानकर परमार्थकी ओर आकृष्ट होते हैं, वे समावर्त्तनके बदले बृहद्-व्रत अथवा यति-धर्मको स्वीकार पूर्वक पारमार्थिक दीक्षा प्राप्त करते हैं।

दैक्ष्यजन्म और श्रीगुरुदेवके प्रति कर्त्तव्य

पारमार्थिक आचार्यका नाम गुरु है। वे जीवोंको अप्राकृत दिव्यज्ञान प्रदान करते हैं। दिव्य ज्ञान देने-की प्रणालीको दीक्षा कहा जाता है। यही जीवोंका तृतीय जन्म अर्थात् दैक्ष्यजन्म है। इस तृतीय जन्ममें वे अप्राकृत भगवत् उपासनामें प्रवृत्त होते हैं एवं जड़

* आचार्य कुलमें विद्या अध्ययन समाप्त करनेके बाद घर लौटनेका जो संस्कार होता है उसे समावर्त्तन कहा जाता है।

दर्शनसे मुक्त हो जाते हैं। हमने पहले ही कहा है कि शौक्रजन्मके विस्तारको ही केवल वंश नहीं कहा जाता है, बल्कि सावित्र्य और दैक्ष्य जन्मके विस्तारको ही वास्तविक वंशकी संज्ञा दी जाती है।

शौक्र-जन्मके साथ सावित्र्य और दैक्ष्य-जन्मका भेद

आचार्य कुलमें स्थिति (सावित्र्य जन्म) या अप्राकृत गुरुके घर (दैक्ष्य) जन्मका शौक्र जन्मके साथ भेद रहने पर भी पूर्वोक्त दोनों जन्मोंको परम्पराक्रमसे वंश कहा गया है और सर्वत्र ही इसका दृढ़तासे प्रतिपादन किया गया है। शौक्र-जन्ममें संतानका पिताके प्रति दासत्व बहुत ही कम रहता है, किन्तु सावित्र्य और दैक्ष्य जन्ममें आचार्य या गुरुके प्रति उसका दास्यभाव क्रमशः अधिक होता है। भक्ति मार्गमें सेवाके तारतम्यसे ही उत्तराधिकारका तारतम्य निर्णय किया जाता है। जैसे किसी वैद्यका पुत्र जन्मसे ही वैद्य नहीं होता, परन्तु चिकित्सा-शास्त्रका ज्ञान अर्जन करनेके बाद चिकित्सक बन सकता है। उसी प्रकार वैष्णव गुरुके (शौक्र) पुत्र होनेके कारण ही वह आचार्य या गुरु होनेका दावा नहीं कर सकता। शौक्र-वंशमें ही केवल पारमार्थिक अधिकार सीमित नहीं होता, ऐसी बात किसी भी शास्त्र या सदाचारमें दिखलायी नहीं पड़ती है। केवल गृहस्थ अवैष्णव सम्प्रदायमें कुछ स्वार्थान्ध लेखकोंकी कपटताके कारण कहीं-कहीं ऐसा देखा जाता है।

सत् सम्प्रदायोंमें तुर्याश्रमी-गुरुओंकी (चतुर्थाश्रमी या संन्यासी गुरुओंकी) वंशावली शिष्य-परम्परासे चलती है। सत् सम्प्रदाय-जात अर्थात् सत् सम्प्रदायके गुरुपरम्पराके सिवा दूसरोंसे मंत्र लेनेसे वह मंत्र निष्फल होता है--यह बात पद्म पुराणमें लिखी गयी है।

वंचक सम्प्रदायकी कुचेष्टा

मूर्ख व्यक्तियोंको ठगनेके लिए कितने ही प्रकारके नये-नये मतोंकी सृष्टि हुई है। स्वार्थान्ध साधारण लोग प्राकृत विषयोंके मदमें मत्त होकर उन मतवादोंका खण्डन कर सत्य-वस्तुका अनुसंधान नहीं कर सकते। सुतराम् वंचक सम्प्रदाय सत्यको ढककर अपना जाल फैलाते हैं बहुतसे दुर्भाग्य व्यक्ति उनके धोखेमें पड़कर परम सत्यसे वंचित हो जाते हैं एवं परमार्थ तो दूर रहे वे अनर्थके जालमें फँस जाते हैं। यदि डाक्टरका पुत्र डाक्टरी न सीखकर लोगोंकी चिकित्सा करना आरम्भ करदे, यदि रेलवे ड्राईवरका पुत्र इञ्जिनके यंत्रोंका कोई ज्ञान प्राप्त न करके भी ट्रेन चलाना शुरू कर दे, यदि तैराक-पिताका पुत्र तैरना न जानते हुए भी दूसरे लोगोंको तैरना सिखलानेके लिए अगाध जलमें ले जाय, तो इसका जैसा विषमय नतीजा होगा, उसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

उपसंहार

वैष्णवोंके शौक्र वंशमें उत्पन्न होनेका हम जितना भी न क्यों अहंकार करें, हरि-सेवामें हमारी दृढ़ श्रद्धाका अभाव रहनेसे निर्जीव भक्तिके अंगोंकी दिखावटसे आत्मवंचना और समाजके प्रति शत्रुता करना होगा। अच्युत-गोत्र (क) और शौक्र-गोत्र एक नहीं है। अतः वैष्णव वंश कहनेसे केवल वैष्णवोंके शौक्र वंशका बोध नहीं होता। अच्युत गोत्रमें प्रवेश किये हुए परमार्थी वैष्णव लोग उनका अधिकार उनके अनुरागी सेवकोंको ही सौंपते हैं। केवल कुलमें जन्म ग्रहण करनेसे ही अयोग्य संतान कभी भी अपने पूर्वजोंका उत्तराधिकार-स्वत्त्व प्राप्त नहीं कर सकता है और प्राप्त करने पर भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। ये सारी बातें वैष्णव-वंशकी तरह विष्णुके वंशमें भी कुछ समअधिक लागू हैं। विशेषतः भगवान् और भक्तलोग समय-समयपर विभिन्न वंशोंमें प्रकट होते हैं और फिर उन्हीं वंशोंमें अभक्त तथा असुर लोग भी जन्म ग्रहण कर सकते हैं—इसमें कोई बाधा नहीं। विष्णुके संतान विष्णु नहीं—किन्तु वैष्णव होते हैं। अतः दीक्षा द्वारा प्राप्त जन्मको ही यथार्थमें वंश कहा जाता है।

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिसिद्धांत सरस्वती

(क) संसार-धर्म छोड़कर परमार्थ-सेवाके लिए दीक्षा-प्राप्त व्यक्तिका अच्युत-गोत्र होता है।

धर्म और विज्ञान

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या ६, पृष्ठ १२८ से आगे]

जड़वाद स्वीकृतिमें मुख्य बाधा

जड़वाद स्वीकार करनेके पक्षमें इन प्रतिबंधोंके रहते हुए भी उनकी अपेक्षा अधिक बड़ी एक दूसरी बाधा है। क्रम उत्पत्तिवादकी सत्यता स्वीकार करने पर भी इसके अधिकार क्षेत्रमें इसे एक साधारण प्रक्रियारूपसे स्वीकार किया जा सकता है। जिस शक्तिसे यह प्रक्रिया आरम्भ हुई है, उस शक्तिके मूल और स्वभावके सम्बन्धमें यह वाद एकदम चुपचाप है। जहाँतक भूमिके ऊँच-नीच स्तर समूहमें उद्भिद् और जन्तुओंकी आकृति और निर्माणके सम्बन्धमें इस मतवादकी क्रिया चलती रहती है, वहाँतक इस क्रियाके मूल अनुसंधानकी तरफ प्रवृत्ति नहीं होती। इस मतवादमें तंत्रवादी यथेष्ट हैं। किन्तु बुद्धिमान् मनुष्य यह देखता है कि अनुसंधानकी इच्छा रखने वाला व्यक्ति आत्मविश्वासके साथ जीवनके सम्बन्धमें जिस समय अनुसंधान करने लगता है, तब उसके सामने अनेक प्रकारकी सत्ताएँ प्रतीत होती हैं। किन्तु आत्मविश्वासका सम्बन्ध-ज्ञान प्राप्त होने पर विभिन्न प्रकारकी सभी सत्ताएँ इसी एक वस्तु-आत्म-विश्वास की सीमाके भीतर ही दिखलाई पड़ती हैं।

क्रमोत्पत्तिवादकी हेयता और धृष्टता

जब हम आनन्द और विषाद, दुःख और सुख, वाक्य और क्रियाके विषयमें चिन्ता करते हैं, तब उनकी उत्पत्तिके मूल स्थानको नहीं जान पाते हैं, जान पाते हैं केवल उस समय, जिस समय हम सृष्टि-शक्तिके तत्त्वका विचार करते हैं। क्रमोत्पत्तिवादी साहसपूर्वक किन्तु प्रमाणशून्य होकर कहा करते हैं कि यह शक्ति भौतिक पदार्थोंके संमिश्रणसे जड़-यंत्रकी शक्तिकी तरह उत्पन्न होती है। तथा वह आत्मविश्वासमें संबन्ध-शून्य है। किस प्रकार जड़-यंत्रसे उत्पन्न और आत्मविश्वाससे संबन्ध-शून्य कोई शक्ति आध्यात्मिक स्वतंत्रता-युक्त जीवों की उत्पत्तिका कारण हो सकती है, इस विषयमें क्रमोत्पत्तिवादी कोई सिद्धान्त नहीं रखना चाहते। दूसरी तरफ, वे स्वीकार करते हैं कि यह तत्त्व अज्ञात और अचिन्त्य है। तथापि अपने जड़वादकी अकर्मण्यता स्वीकार करनेके साथ-ही-साथ अतिशय अन्यायपूर्वक कहते हैं कि जो क्रमोत्पत्तिवादकी सत्यतामें संदेह करते हैं वे अतत्त्वज्ञ हैं तथा उनके सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं।

जड़ीय मतवाद ससीम और भ्रम-प्रमाद आदि दोषोंसे युक्त होते हैं।

हार्बर्ट, स्पेन्सर, हाक्सले आदि दार्शनिकोंके द्वारा आविष्कार किया हुआ विज्ञान इन्द्रियोंकी अपटुतासे उत्पन्न एक प्रमाद-विशेष है। जिस प्रकार एक अनाड़ी चिकित्सक अनुचित औषधके प्रयोग द्वारा समस्त रोग दूर करनेकी प्रतिज्ञा करता है, उसी प्रकार हमारे नव्य पाण्डित्याभिमानी जड़विद् व्यक्ति जैव-जीवनके समस्त रहस्यपूर्ण तत्वोंका सिद्धान्त चिन्तन करनेके अभिप्रायसे अपने नगण्य जड़वादके अन्तर्गत विधियोंका प्रयोग करते हैं। वे प्रमादसे उत्पन्न कष्टोंका विचार न कर अपने भित्तिहीन स्वप्नवत् विद्याके ऊपर विश्वास कर समस्त विषयोंका तथ्य अनुसंधान करते हैं। जड़ीय मतवाद एक नितान्त सीमाविशिष्ट और भ्रम, प्रमाद, करणापाटव तथा विप्रलिप्सा(क) दोषोंसे परिपूर्ण है—इसे प्रमाणित करने पर भी आध्यात्मिक जीवनके विरोधी भ्रान्त मतवादियोंको कुछ भी शिक्षा नहीं मिलती।

(क) (१) भ्रम—एक वस्तुको दूसरी वस्तु समझना।
(२) प्रमाद—अन्यमनस्कता।
(३) करणापाटव—इन्द्रियोंकी अपटुता।
(४) विप्रलिप्सा—दूसरोंको ठगनेकी इच्छा।

ईसाईयोंका Soul और वेदोंकी आत्मा एक नहीं

यह लेख किसी ईसाईकी लेखनीसे निकला हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेखकने जड़वादको अस्वीकार करते हुए जितना भी अध्यात्मवादका स्थापन किया है, वह ईसाई-धर्मका संकुचित मतवाद मात्र है। ईसाई-धर्ममें जो एक (Soul) शब्द है, उसे स्थापन करनेके लिए नितान्त जड़वादियोंके मतका खण्डन करना आवश्यक है। क्योंकि उनका Soul जड़शक्तिके अन्तर्गत समस्त विधियोंको अतिक्रम कर विद्यमान रहता है। परन्तु ईसाई जिसे Soul कहते हैं, वह शुद्ध आत्मा नहीं है। वेदोंमें "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो मन्तव्यः" आदि मन्त्रोंमें जिस आत्माका निर्देश दिया गया है, वह आत्मा नितान्त जड़वाद और मिश्र जड़-वादसे भिन्न है। ईसाईयोंका Soul मिश्र जड़वादके अन्तर्गत है। मन और मनका धर्म ही उनका Soul है। किन्तु विशुद्ध आत्मा मनसे अत्यन्त श्रेष्ठ और शुद्ध होता है।

जड़वादकी अपेक्षा ईसाईयोंका आत्मवाद भी श्रेष्ठ है।

ईसाई लोग लिंग देहको ही आत्मा समझते हैं। इस धारणाके अनुसार उन्होंने एक स्वर्ग और एक नरककी कल्पना की है और उसी विश्वासके आधारपर एक ईश्वर और एक शैतानके विश्वासको भी मानते हैं। खैर, ईसाई लोग विशुद्ध आत्मतत्त्वका ठीक ठीक अनुभव नहीं करने पर भी समस्त जड़वादियोंसे श्रेष्ठ हैं। क्योंकि जड़वादियोंके जितने भी भेद हैं उनमें किसीमें भी आत्मतत्त्वकी कोई चर्चा तक नहीं है। स्थूल और जड़ बन्धनोंसे मुक्तिमूलक आत्म-पथमें ईसाईयोंकी श्रद्धा देखी जाती है—यही उनके मंगलका बीजस्वरूप है। यह जड़ श्रद्धा जन्म-जन्मान्तरोंमें सत्संग-रूप सुकृतिके बलसे अनन्य भक्तिमें परिणत हो जायगी। जड़वादी अतीव दुर्भागा होते हैं। मरनेके बाद वे जड़-धर्म प्राप्त करते हैं। "भूतानि यान्ति भूतेज्या" गीताका यह वचन ही इसका प्रमाण है। "यान्ति देव-व्रता देवान्" इस वचनके अनुसार ईसाई धर्मावलम्बी-गण देवताओंका स्वर्गलोक लाभ करेंगे—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। वेदार्थविद् वैष्णव लोग "यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्" इस वचनके अनुसार शुद्ध आत्म वस्तुका यजन कर परमात्माकी सेवा प्राप्त करते हैं।

जड़वादी ही भूत-पूजक—'भूतेज्या' हैं एवं इनकी सभ्यता आधुनिक और आसुरिक है।

जड़वादियोंको भूतेज्या(भूतपूजक)कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने जड़वस्तु, जड़वस्तुओंकी विधि और जड़शक्तिकी विवेचना कर सब प्रकारकी क्रमोन्नति और क्रमोत्पत्तिके विधियोंका निर्णय किया है तथा उन्हीं विधियोंको जगत्-चक्रकी प्रधान विधियोंके रूपमें माना है। वे मरने पर आत्म-तत्त्वसे दूर रहकर जड़ अवस्था प्राप्त करते हैं अर्थात् उनकी आत्मशक्ति प्रायः विलुप्त होकर जड़मय हो जाती है। इनकी अवस्था शोचनीय होती है। वे स्वयं वञ्चित होकर जगत्को ठगते हैं। इसी अपराधके कारण वे अन्तमें अधिकतर वंचित ही रहते हैं। इस तरह देखा जाता है कि आर्यपुरुषोंमें बहुतसे अधःपतित जड़भावापन्न और पाण्डित्यका मिथ्या अभिमान रखनेवाले व्यक्तियोंने समय-समय-पर क्रमोत्पत्तिवादको स्वीकार किया है। यह कोई नयी बात नहीं है। पाश्चात्य देशोंमें थोड़े समयसे ही मानव-सभ्यता और बुद्धिका परिचय पाया जाता है। अतः उन देशोंमें टिण्डल, हाक्सली, डार्विन आदि व्यक्तियोंकी गिनती पण्डितोंमें की जाती है। पुरानी बातोंको नयी भाषामें रूपान्तरकर बोलनेसे पाण्डित्यका जो दावा किया जासकता है—वे लोग वही कर सकते हैं। आजसे ४००० वर्ष पहले ही श्रीमद्भगवद् गीताका प्रादुर्भाव हुआ था। उसमें आसुरी प्रवृत्ति वर्णन करनेके प्रसंगमें "जगदाहुरनीश्वरं", "अपरस्प-रसम्भूतं" इत्यादि वचनोंके द्वारा स्वभाववाद, क्रमोन्नतिवाद और क्रमोत्पत्तिवादको अत्यन्त हेय माना गया है कि वे मतवाद आसुरिक प्रवृत्तिसे उत्पन्न हुए हैं।

क्रमोन्नतिवादी और क्रमोत्पत्तिवादियोंके प्रति उपदेश

इन सभी मतवादोंको परित्याग कर आत्मतत्त्वमें प्रवेश करना ही प्रत्येक आत्म-साधक जीवका कर्त्तव्य है। जड़ जगत्की समस्त विचित्रताओंको स्वीकार

करते हुए और उनमें सृष्टिकर्त्ताकी लीलाओंकी आलोचना करते हुए भगवत्प्रेमका अनुसन्धान करना चाहिये। क्षुद्र मतवादोंमें आबद्ध रहना किसी बुद्धिमान् मनुष्यका कर्त्तव्य नहीं है। प्रक्रियाकी खोज करने वाले शिल्पियोंके पक्षमें वे विज्ञान बहुत आदरणीय हैं। शिल्प और विज्ञान-विद्याको उन्नतकर तत्त्वविदों-की सेवा करना ही उनका प्रधान कर्त्तव्य होता है। आत्म-तत्त्व अत्यन्त गूढ़ विषय है। जो लोग उसके अनुशीलनमें रत रहते हैं, उन्हें साधारण शिल्प, विज्ञान आदिमें आबद्ध होनेके लिये समय नहीं होता है। इसीलिये उनके जीवन-निर्वाहके साधनोंके लिये प्रयत्न करना दूसरे सभी लोगोंका कर्त्तव्य है हे क्रमोन्नतिवादी भाइयो! तुमलोग अपना-अपना कार्य करो। इसीसे तुम्हारा और जगत्—दोनोंका कल्याण होगा। तुमलोग अनधिकारचर्चा-पूर्वक आत्म-तत्त्वके दोष-गुणकी व्याख्या करनेकी चेष्टा न करो। तुमलोगोंके भले मनुष्योंकी तरह कार्य करनेसे हम तुम्हें सर्वदा आशीर्वाद करेंगे।

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

शरणागति

दैन्य—त्रासात्मक

[ॐ विष्णुपाद श्रीमद् भक्तिविनोद ठाकुर]

हे श्रीपति! तव श्रीचरणों में यह है मेरी विनय प्रभो।
तव-पद-पल्लव छोड़ दिये, मन मेरा मरु हो गया विभो॥
विषम विषय-विष सेवन ही में मुग्ध रहा मन सदा अहो।
अब भी नहीं छोड़ना चाहे, चाहे जितना विकल रहो॥
दीनानाथ कहाते तुम हो, मैं हूँ दीन हताश प्रभो।
अब तो केवल तव चरणों की, मुझे रह गई आश प्रभो॥
मुझ सा दीन न और मिलेगा, मुझ पर स्वामी! कृपा करो।
तव-जन-संग भजूँ मैं तुमको, मेरा सकल प्रमाद हरो॥
गाऊँ नाम धाम में प्रभु के, यों ही समय बिताऊँ मैं।
भक्ति विनोद कहे, प्रभु! तव पद शीतल छाया पाऊँ मैं॥

मायावादकी जीवनी

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या ५, पृष्ठ १११ से आगे ।]

बौद्धमतमें शून्य और ब्रह्म

अब ब्रह्म और शून्यमें क्या भेद है, अथवा इनमें कुछ भेद है या नहीं—इसकी विवेचना की जारही है। प्रज्ञापारमिता सूत्रके १६ वें श्लोकमें शून्य-तत्त्वरूप परम निर्वाणके सम्बन्धमें लिखा गया है—

"शक्तः कस्त्वामिहस्तोतुं निर्णिमित्तां निरञ्जनाम् ।
सर्व्ववाग् विषयातीतां या त्वं कचिदनिश्रिता ॥"

उक्त श्लोकसे जाना जाता है कि शून्य तत्त्व निर्निमित्त, निरञ्जन,अनिश्रित और वाणीसे अगोचर होनेसे कोई उसकी स्तुति भी करनेमें समर्थ नहीं है। मैंने पहले ही—'बौद्धोंका शून्यवाद' प्रसङ्गमें पाठकों-को शून्यवादका लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

'आकाशाम् निर्लेपाम् निष्प्रपञ्चाम् निरक्षराम्'

'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' के १८ वें परि-वर्त्तमें शाक्य सिंह बुद्धने सुभूतिके प्रति शून्यके जो लक्षण बतलाये हैं वे इस प्रकार हैं—

"ये च सुभूते शून्या अक्षयाऽपि ते ।
या च शून्यता अप्रमेयता अपि सा ॥"

अर्थात् हे सुभूति, शून्य ही अक्षर है। जिसे शून्य कहा जाता है वही अप्रमेय है। फिर उसी ग्रन्थ में कहते हैं—

"अप्रमेयमिति वा असङ्ख्येयमिति वा अक्षयमिति वा शून्यमिति वा अनिमित्तमिति वा अप्रनिहितमिति वा अनभिसंस्कार इति वा अनुत्पाद इति वा अज्ञा-तिरिक्त वा अभाव इति विराग इति वा निरोध इति वा निर्वाणमिति ।"

देव-पुत्रोंके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए उक्त ग्रन्थके द्वादश परिवर्त्तमें शून्यका लक्षण बतलाते हैं—

"शून्यमिति देवपुत्रा अत्र लक्षणानि स्थाप्यन्ते अनभिसंस्कार इत्युत्पाद इत्यनिरोध इत्यसंक्लेश इत्य-व्यवदानमित्यभाव इति निर्वाणमिति धर्म धातुरिति तथातेति देवपुत्रा अत्रलक्षणानि स्थाप्यन्ते नैतानि लक्षणानि रूपनिश्रितानि ।"

उक्त वचनोंसे विदित होता है कि अप्रमेय, असं-ख्येय, अक्षय, अनिमित्त, अप्रनिहित, अनभिसंस्कार, अज, अजाति, अभाव, अनिश्रित, अनुत्पाद, अनि-रोध, असंक्लेश, अव्यवदान, अरूप, आकाशकी तरह निर्लेप, निष्प्रपञ्च, निरक्षर, निर्निमित्त, निरञ्जन, निरोध, निर्वाण, निरवद्य, विराग और राग-विषया-तीत—ये सब शून्य तत्त्वके लक्षण हैं। इन लक्षणोंको विशेषरूपसे ठीक-ठीक विचार करनेसे शङ्करके ब्रह्म-तत्त्वका शून्यतत्त्वसे कुछभी भेद प्रतीत नहीं होता है। यहाँ तक कि आचार्य शङ्करने भी ब्रह्मको शून्य बत-लाया है। नीचे हम इसका प्रमाण दे रहे हैं।

शङ्करके मतमें ब्रह्म और शून्य

श्रीशङ्करके 'विवेक-चूड़ामणि,' 'अपरोक्षानुभूति,' 'ब्रह्मनामावलीमाला' आदि ग्रन्थोंको आद्योपान्त पढ़ने-से मालूम होता है कि उनमें उक्त शून्यके लक्षणोंको ही ब्रह्मका लक्षण माना गया है। इस प्रसङ्गमें श्री शङ्कराचार्य द्वारा लिखे गये अधिक प्रमाणोंको उद्धृत करना लेख विस्तारके भयसे बेकार समझता हूँ। फिर भी सिद्धान्तकी सत्यताका प्रतिपादन करनेके लिये दो एक श्लोकोंको लिपिबद्ध किया जारहा है—

द्रष्टृ दर्शनदृश्यादिभावशून्यैक वस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥
(विवेकचूड़ामणि—४०२)

वाचो यस्मान्निवर्त्तन्ते तदवक्तुं केन शक्यते ।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्ज्जितः ॥
(अपरोक्षानुभूति—१०८)

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निराकारोऽहमक्षरः ।
परमानन्दरूपोऽहमहमेवाहमव्ययः ॥
(ब्रह्मनामावलीमाला—४)

ऊपर के श्लोकोंमें निर्विकार, निराकार, निर्विशेष, निरवद्य, अव्यय, अक्षय, आदि ब्रह्मके जो स्वरूप-लक्षण बतलाये गये हैं, वे शून्यके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं अर्थात् ये सभी शून्यके लक्षण हैं। शून्यके लक्षणोंमें अभाव भी एक लक्षण है, वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदि भावोंसे शून्यरूप अभावको ही लक्ष्य करता है। इसके अलावा प्रातःस्मरणस्तोत्रके द्वितीय श्लोकमें 'यन्नेति नेति वचनैः' इत्यादि वचनों-से उक्त शून्य लक्षणात्मक अभावको ही लक्ष्य किया जाता है। जहाँ शून्य, "सर्ववाक्-विषयातीत" है, तो ब्रह्म, "शब्दविवर्जित" है। जहाँ ब्रह्मको लक्ष्यकर—"तद्वक्तुं केन शक्यते"- कहा जाता है, तो शून्य-को बौद्धलोग भी "शक्तः कस्त्वामिहस्तोतुम"—कहते हैं। बौद्ध जिसे "निरञ्जनाम्, निर्लेपाम"। कहते हैं, शङ्कर भी उसको "निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः" इत्यादि कहते हैं (मुण्डकोपनिषद्का तृतीय मुण्डक ४७ श्लोकका भाष्य द्रष्टव्य)। अब पाठकवर्ग स्वयं विचार करें कि शङ्करका ब्रह्मवाद और बुद्धका शून्य-वाद दोनों एक हैं या नहीं ?

अद्वयवादी और अद्वैतवादी

पूर्वोक्त आलोचनासे पता चलता है कि माया-वादका जीवन बौद्ध-चिन्ता-धारामें पुष्ट हुआ है। अमरकोषमें बुद्धदेवको अद्वयवादीकी संज्ञा दी गई है,एवं आचार्य शङ्कर भी अद्वैतवादी थे—यह सर्व-मान्य है। निरपेक्ष होकर विचार करनेसे स्पष्ट बोध होता है कि अद्वयवाद और अद्वैतवादमें कुछ भी पार्थक्य नहीं हैं।

फिर भी दोनों मतवादोंके विचारोंमें जो कुछ भेद प्रतीत होता है, उसकी कुछ आलोचना करना आवश्यक है। परिणाम-विचारसे बुद्धने शून्यको असत्स्वरूप कहा है। उन्होंने और भी कहा है—"शून्यको शून्य ही समझो, अभाव समझो, निर्वाण समझो। और श्रावक तथा बोधि-सत्त्व श्रेणी यदि उक्त शून्यको शून्य-रूप न माने अथवा निर्वाणको एक गुणात्मक-विशेष अवस्था समझे, तो वह भी "मायोपम स्वप्नोपम" है।

परिणाम-विचारसे आचार्य शंकरने ब्रह्मको सत्-स्वरूप बतलाया है और दूसरी जगह आनन्द-स्वरूप तथा निर्वाण-स्वरूप भी कहा है। साधारण विचारसे दोनों मतोंकी परिभाषामें भेद देखे जाने परभी वास्तव-में उनके भावों और विचारोंमें तनिक भी भेद नहीं—तनिक विचार करनेसे ही यह समझा जा सकता है। निर्वाण-शब्दसे शुष्कताशून्य-रसपूर्णताका बोध होनेसे "निर्वाण"-शब्दसे किसीको भी आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु दोनोंने ही उनके अपने-अपने तत्त्वको अर्थात् शून्यको और ब्रह्मको 'निर्वाण'स्वरूप बतलाया है। आचार्य शंकरने मुक्तिके बाद ब्रह्मके जिस आनन्द-स्वरूप लक्षणको बतलाया है, विचारपूर्वक देखनेसे उक्त लक्षण निरर्थक प्रतीत होता है। क्योंकि उनके मतसे उसका प्रापक (पाने वाला) कोई नहीं है। अतएव प्राप्य और प्रापकके अभावमें यदि उसे 'निरा-नन्द-स्वरूप' ही कहा जाय तो इसमें दोष ही क्या है ?

श्रीपाद शंकर कहते हैं—

"भाववृत्त्याहि भावत्वं शून्यवृत्त्याहि शून्यता।
ब्रह्मवृत्त्याहि ब्रह्मत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत्॥"

(अपरोक्षानुभूति—१२६)

अर्थात् भाववृत्ति द्वारा भाववस्तु (वह वस्तु जिसकी सत्ता है) तथा शून्यवृत्ति द्वारा शून्यवस्तु (जिसकी सत्ता नहीं है) प्राप्त होती है और ब्रह्मवृति-का अवलम्बन करनेसे ब्रह्मत्व प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त वचनोंसे आचार्य शंकरने शून्यवादकी अपेक्षा ब्रह्मवादका वैशिष्ट्य स्थापन करनेकी चेष्टा की है, किन्तु विचारपूर्वक देखनेसे उपर कहेगये वैशिष्ट्य-की रक्षा नहीं होती। वह केवल कहनेकी बात है। उक्तश्लोकमें इस बातका इंगित पाया जाता है कि भावरूप ब्रह्म-वृत्तिका अभ्यास करनेसे सत्-स्वरूप और भावस्वरूप ब्रह्मत्वकी प्राप्ति होती है तथा अभा-वरूप शून्यवृत्ति स्वीकार किये जानेसे असत् स्वरूप शून्य ही प्राप्त होता है। अब सत्वस्तु ब्रह्म और अस-त्वस्तु शून्यमें भेद क्या है, उस पर विचार करना आवश्यक है। यथार्थमें दोनोंमें भेद होने या न होनेमें लाभ या हानि किसको है ? द्रष्टा-दृश्य-दर्शन—इन

भावोंसे शून्य एक वस्तुको भाव या सत् बोलने अथवा अभाव या असत् कहनेमें भेद क्या है, इसका अनुसंधान करने पर भी क्या कुछ मिलेगा ? बहुतसे ऐसे पदार्थ—जिनका अभी तक आविष्कार नहीं हुआ है, उनकी सत्ता स्वीकार करनेसे जिस प्रकार जीवोंका उनसे कुछ भी उपकार या अपकार नहीं होता, उसी प्रकार बहुतसे ऐसे पदार्थोंका आविष्कार किया जाय जिनका कोई अस्तित्व ही न हो, तो उससे भी कुछ लाभ नहीं है—यह वैज्ञानिकोंका विचार है। जिस वस्तुका पारमार्थिक दृश्यत्व नहीं है और उसका कोई दर्शक भी नहीं है तो ऐसे स्थलपर उस वस्तुको सत् कहा जाय अथवा असत्—बात एकही है।

मायावादको बौद्धवादकी संज्ञा न देकर उसे छिपानेका कारण

अद्वयवाद और अद्वैतवादमें कोई विशेष भेद नहीं रहने पर भी आचार्य शङ्करने अपने मतवादका नाम बौद्धवाद नहीं रखा—यद्यपि वे भीतर-ही-भीतर इस बातको पूर्णतया जानते थे कि वे एक प्रकृत बौद्ध हैं। उनके आत्म-परिचय छिपानेका विशेष कारण था। वह कारण,उनके दार्शनिक विचारोंका भेद होना नहीं, भगवान्‌का आदेश ही उसका मूल कारण है। आचार्य शिरोमणि श्रीलकृष्णदास कविराज गोस्वामीने उनके सम्बन्धमें इस विषयपर प्रकाश डाला है—

"आचार्येर दोष नाहिं ईश्वर-आज्ञा हैल।
अतएव कल्पना करि नास्तिक शास्त्र कैल॥"

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

अर्थात् आचार्य शङ्करने काल्पनिक नास्तिक शास्त्रोंकी रचना कर उनसे मायावादका प्रचार किया है—इसमें आचार्यका तनिकभी दोष नहीं है। उन्होंने भगवान्‌की आज्ञासे ऐसा किया था। भगवान्‌की आज्ञा थी—

"माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा"

अर्थात् कल्पित शास्त्रोंकी रचना कर उनके द्वारा नास्तिक मतवादका प्रचार करो, जिससे मनुष्य हमसे (भगवान्‌से) विमुख होकर सृष्टिके विस्तार-कार्यसे विरक्त न हों।

इस प्रसंगमें श्रीभक्तिविनोद ठाकुरजीने अपने 'जैव-धर्म' नामक ग्रन्थमें जो लिखा है उसे नीचे उद्धृत किया जारहा है—

"श्रीशंकराचार्यका नाम सुनकर परमहंस बाबाने उन्हें दण्डवत्-प्रणाम किया। फिर बोले—महाशय, "शङ्करः शंकरः साक्षात्" इस बातको सदा स्मरण रखियेगा। शङ्करजी वैष्णवोंके गुरु हैं। इसी कारण महाप्रभुजीने आचार्य कहकर उनका उल्लेख किया है। श्रीशङ्कराचार्य स्वयं वैष्णव थे। जिस समय वे भारतमें उदित हुए थे, उस समय उनके समान एक गुणावतारके आविर्भूत होनेकी बहुत बड़ी जरूरत थी। भारतमें वेद-शास्त्रकी आलोचना और वर्णाश्रम धर्मका क्रिया-कलाप बौद्धोंके शून्यवादके चक्करमें पड़कर शून्य-प्राय हो गये थे। शून्यवाद नितान्त निरीश्वर है। उसमें जीवात्माका तत्त्व कुछ-कुछ स्वीकृत होने पर भी वह धर्म बिल्कुल ही अनित्य है। उस समय ब्राह्मण लोग प्रायः बौद्ध-धर्म ग्रहण कर वैदिक धर्मका परित्याग करते जारहे थे। असाधारण शक्तिसम्पन्न शङ्करके अवतार श्रीशङ्कराचार्यने उदित होकर वेदोंके सम्मानकी स्थापनाकी—शून्यवादको ब्रह्मवादमें परिणत कर दिया। यह कार्य असाधारण था। भारतवर्ष इस महान् कार्यके लिये श्रीशङ्कराचार्यका सदा ऋणी रहेगा। सभी कार्योंका जगत्‌में दो प्रकारसे विचार होता है। कुछ कार्य तात्कालिक होते हैं और कुछ सार्वकालिक। शङ्कराचार्यका यह कार्य तात्कालिक था। उसके द्वारा अनेक सुफलोंका उदय हुआ है। शङ्कराचार्यने जो भित्ति स्थापन किया उसी भित्तिके ऊपर श्रीरामानुजाचार्य आदि आचार्योंने विशुद्ध वैष्णव-धर्मका महल खड़ा किया है। अतएव शङ्करावतार वैष्णव-धर्मके परम बन्धु और एक प्रागुदित आचार्य हैं।"

—(जैवधर्म द्वितीय अध्याय)

भगवानकी आज्ञा पालन करनेवाले आचार्यके चरण-कमलोंमें मैंने अपराध कहीं किया है, बल्कि मैंने विद्वानोंके सामने इस बातको उपस्थित करने की चेष्टा की है कि आचार्य शङ्करने भगवानकी आज्ञाको पूर्णतया पालन करनेके उद्देश्यसे लुक-छिप कर शून्यवाद या बौद्धवादका ही अवलम्बन किया था।

बुद्धदेवके प्रति आचार्य शङ्करका मनोभाव कैसा था—यह उनके दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रको पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है। इन्होंने गुप्तरूपसे बुद्धका स्तव किया है—

'चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ॥"

उपरोक्त श्लोकसे अनुमान लगाया जा सकता है कि बुद्धदेवके प्रति उन्होंने कितनी श्रद्धा अर्पित की है। 'चित्र' —शब्दसे अत्यन्त सम्मानसूचक मुग्धभावका बोध होता है। वट-वृक्षके नीचे गुरु-शिष्य मौन होकर बैठे हैं। शिष्य सभीके सभी वृद्ध हैं और गुरु युवक। गुरु मौनभावसे धर्मव्याख्या कर रहे हैं, उसीसे शिष्यका सन्देह दूर हो रहा है।

ऊपरके श्लोकके पूर्ववर्ती श्लोकोंकी आलोचना करनेसे भी ऐतिहासिक सत्यरूपसे ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त दोनों श्लोक शाक्यसिंह बुद्धके सम्बन्धमें लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त शून्यके सम्बन्धमें नृसिंह-तापनी उपनिषद्के निम्नलिखित वचनको देखकर आचार्यने महानन्दके साथ शून्य तत्त्वको ही ब्रह्म-तत्त्व स्वीकार किया है। उक्त वचन इस प्रकार है—

"आनन्दघनं शून्यम्, ब्रह्मआत्मप्रकाशं शून्यम्।
(नृसिंहतापनी---उ: ६।२, ४)

अर्थात् शून्य ही आनन्द-स्वरूप है, शून्य ही ब्रह्म-स्वरूप है। बौद्धोंने भी उक्त मंत्रकी प्रतिध्वनि करके—अर्थात् उक्त मंत्रके अनुरूप 'मिलिन्दपंचह' ग्रन्थमें शून्यरूप निर्वाणको "एकान्त सुखम्", "विमुक्त सुखम् पटिसम्वेदि" इत्यादि वचनों द्वारा एकान्त सुख स्वरूप कहा है। बौद्ध-अमरसिंहने निर्वाणको निःश्रेयस अमृत कहकर वर्णन किया है—"मुक्ति कैवल्य निर्वाणं श्रेयोनिःश्रेयसामृतम्।" उसके टीकाकार कहते हैं—"निर्वातेः आत्यन्तिक-दुःखोच्छेदे भावेक्त"। अतएव आनन्दघन शून्यको, आत्म-प्रकाश शून्यको, ब्रह्म-स्वरूप शून्यको बौद्धलोगोंने भी आत्यन्तिक दुःखच्छेदरूप, अनन्त-सुख स्वरूप, निःश्रेयस अमृत-स्वरूप और विमुक्त सुख स्वरूप-जानते हैं। अतः देखा जाता है कि बौद्धलोग जिसे शून्य कहते हैं, शङ्करने भी उसीको ब्रह्म कहा है।

(क्रमशः)

नटवर

यशोमति-नन्दन, व्रजवर-नागर,
गोकुल-रञ्जन कान।
गोपी-परान-धन, मदन-मनोहर,
कालीयदमन-विधान ॥
अमल हरिनाम अमिय विलासा।
विपिन-पुरन्दर, नवीन नागरवर,
वंशीवदन सुवासा ॥
व्रजजन-पालन, असुरकुल-नाशन,
नंद-गोधन रखवाला।
गोविन्द माधव, नवनीत-तस्कार,
सुन्दर नन्द गोपाला ॥
जमुना तटचर, गोपीवसनहर,
रास रसिक कृपामय।
श्रीराधावल्लभ, वृन्दावन-नटवर,
भकतिविनोद-आश्रय ॥

गुरु-सेवा

श्रुति, स्मृति पुराणादि शास्त्रोंमें सर्वत्र ही आचार्यकी सेवाका महात्म्य बतलाया गया है। सद्गुरुकी सेवाके सिवा बद्धजीवकी अनर्थ-निवृत्ति तथा भगवत्-सेवाकी प्राप्तिके लिए दूसरा मार्ग नहीं है। शास्त्रोंमें आचार्यको भगवत्-प्रकाश या आश्रय-जातीय भगवत्-विग्रहके नामसे वर्णन किया गया है। गुरुदेव भगवान्से अभिन्न है। वे जीवोंको नित्य-सेवाकी शिक्षा देनेके लिए संसारमें सेवक-विग्रहके रूपमें प्रकट होते हैं। उनका आश्रय करनेसे जीव विषय-स्वरूप भगवान्को पा सकते हैं। सद्गुरुकी सेवा करते-करते बद्ध-जीवके हृदयकी अविद्या-राशि दूर हो जाती है, चित्त-दर्पण निर्मल हो जाता है और तब गुरुकी कृपासे जीवके निर्मल हृदयमें परमश्रेयः करनेवाली ब्रह्म-विद्याका उदय होता है। जब तक जीवके हृदयमें विषयकी कामना रहती है, तब तक वह सद्गुरुके पास पहुँच ही नहीं सकता। मुण्डक श्रुतिका वचन है—

> परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
> निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
> तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
> समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

अर्थात्-ब्राह्मण, कर्म द्वारा अर्जित स्वर्गादि लोकोंको असार समझ करके, कि नित्य भगवद्धाम अनित्य कर्मोंके द्वारा प्राप्त नहीं होता,—कर्मफलसे मनको हटायें। इस प्रकार भोगकी कामनासे वैराग्य-प्राप्त पुरुष विनीत भावसे भगवद् वस्तुका विज्ञान (प्रेमभक्तिके साथ ज्ञान) प्राप्त करनेके लिए वेदका तात्पर्य जानने वाले, भगवत्सेवापरायण सद्गुरुके चरणोंमें सब तरहसे शरण लें। श्वेताश्वतर श्रुतिका भी कहना है:—

> यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
> तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

अर्थात्-जिस साधककी भगवान्में पराभक्ति होती है तथा जिस प्रकार भगवान्में होती है, उसी प्रकार अपने श्रीगुरुदेवमें भी शुद्धाभक्ति होती है, उस महात्माके हृदयमें ही ये बतलाए हुए विषय अर्थात् श्रुतियोंके रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्यचरितामृतके मध्य २२ वें परिच्छेदमें कहा है,—

> "ताते कृष्ण भजे करे गुरुर सेवन ।
> माया जाल छूटे, पाय श्रीकृष्ण चरण ॥"

अर्थात्-त्रिगुणात्मिका अपार-मायाके हाथसे उद्धार पाकर नित्य भगवत्-सेवा प्राप्त करनेके लिए गुरुकी सेवा और उनके आनुगत्यमें भगवत्-भजन करनेके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है। सद्गुरु शिष्यकी भुक्तिकी और मुक्तिकी कामनाका विनाशकर एकमात्र अहैतुकी सेवाकी शिक्षा देते हैं। जहाँ गुरु शिष्यको अपने सुखकी सामग्री समझते हैं और शिष्य भी अपनी इन्द्रियोंके सुखके लिए गुरुके पास जाते हैं, वहाँ गुरुकी सेवा है ही नहीं। ऐसे गुरु और शिष्यका सम्बन्ध नरकके द्वारके समान है। किन्तु सद्गुरुकी सेवा वैकुण्ठ-द्वारके समान है। गुरु नित्य भगवत्-सेवामें संलग्न रहते हैं अतएव वे शिष्यको भी भगवान्की सेवामें ही नियुक्त करते हैं। भगवत्-सेवाके अतिरिक्त सद्गुरुके लिए और कोई कार्य ही नहीं। सुतराम् एकमात्र सद्गुरुकी सेवा करनेसे ही गुरुसेवा और भगवत्-सेवा दोनों ही एक साथ हो जाती हैं। प्रसिद्ध वैष्णव-आचार्य श्रीरामानुजका नाम सभी जानते हैं। उन्होंने मायावादरूप अन्धकार और कर्मियोंके स्मार्तवादके बवण्डरसे जीवोंका उद्धार कर जगत्में भक्त और भगवान्के सेवामाधुर्यका प्रचार किया था।

एक दिन वे शिष्योंको साथ ले श्रीशैलपर गये। सब लोग ऊँचे स्वरसे हरिनामका कीर्त्तन करते हुए आगे बढ़े। दो-तीन दिनके बाद ये लोग एक ग्राममें आ पहुँचे। उस गाँवमें रामानुजके दो शिष्य रहते थे। इनमें एक धनशाली था और दूसरा दरिद्र। धनशाली शिष्यका नाम यज्ञेश और दूसरेका नाम वरदा-

चार्य था। रामानुजने उस धनाढ्य शिष्यके यहाँ शिष्योंके साथ अपने आनेका समाचार देनेके लिए अपने दो शिष्योंको भेज दिया। यज्ञेश श्रीगुरुदेवके आनेका समाचार सुनकर मारे आनन्दके विह्वल हो उठे। वे घरमें जाकर घबरा उठे कि गुरुका स्वागत कैसे करें। वे यह भी भूल गये कि गुरुदेवके दो शिष्य बाहर दरवाजे पर उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। रामानुजके दोनों शिष्य ऐसे व्यवहारसे बड़े दुखी हुए और लौटकर गुरुके निकट सब हाल कहा। रामानुज भी धनाढ्य शिष्यके व्यवहारसे बहुत ही दुखी होकर अपने शिष्योंके साथ गरीब वरदाचार्यके घर चले गये।

वरदाचार्य नित्य सबेरे भिक्षाके लिए बाहर निकलते और सारे दिन भिक्षा कर जो कुछ पाते, उसे गुरु और नारायणको निवेदन कर बाकी आप ग्रहण करते थे। उनकी लक्ष्मी नामकी एक बड़ी ही सती और रूप-लावण्यवती सहधर्मिणी थी। वे सचमुच ही स्वामी के धर्ममें सहायता देने वाली थी। जब रामानुज वरदाचार्यकी कुटीमें शिष्योंके साथ पधारे। उस समय वरदाचार्य भिक्षाके लिए बाहर गये हुए थे। लक्ष्मी स्नान करके सैकड़ों छेदवाले एक चिरकुटको पहनकर दूसरे पुराने मैले कपड़ेको धूपमें सुखा रही थी। उन्होंने ताली बजा कर यह प्रकट किया कि वे ऐसी अवस्थामें गुरुदेवके सामने आकर उनका स्वागत कैसे कर सकती हैं? रामानुजने उसी समय अपना दुपट्टा बाहरसे उछालकर घरमें फेंक दिया। लक्ष्मी उससे अपने शरीरको ढँककर सामने आई और गुरुदेवको बार-बार साष्टाङ्ग प्रणाम कर कहने लगीं—"प्रभो, आप सबके साथ बैठें, मेरे स्वामी भिक्षाके लिए बाहर गये हैं, मैं शीघ्र ही विष्णु-नैवेद्य तैयार करके ले आती हूँ।"

इधर घरमें चावलका दाना भी नहीं। उनकी समझमें कुछ भी न आया, कि अब वे क्या करें। किन्तु प्राण देकर भी गुरु और वैष्णवोंकी सेवा करनी चाहिए, ऐसा विचार करती हुई वे श्रीनारायणको याद करने लगीं। अन्तमें लक्ष्मीदेवीको एक उपाय सूझा। समीप ही एक धनी बनियाँ रहता था। उस बनिए की चाल-चलन अच्छी न थी, उसने लक्ष्मीदेवी के रूपलावण्य पर मुग्ध हो कितनी ही बार अपनी विलासिनी बननेका अनुरोध करते हुए उसने कहा था कि यदि लक्ष्मीदेवी उसकी इच्छा पूरी करें तो क्षण भरमें उनकी और उनके स्वामीकी दरिद्रता दूर हो जायगी, उनके लिए फिर किसी तरहका अभाव न रहेगा। किन्तु सती-साध्वी लक्ष्मीदेवी बनियेकी इस बात पर कभी ख्याल भी नहीं करती थीं। आज उन्होंने देखा कि श्रीगुरुदेव और वैष्णव लोग हमारे घर पर पधारे हैं। यदि इस तुच्छ नश्वर देहको, लौकिक या नैतिक धर्मको जलाञ्जलि देकर भी उनकी सेवा हो सके तभी उसका देह धारण करना सार्थक है। वे इतने दिन अपने भोगके लिए उस बनियेके बुरे प्रस्ताव पर राजी नहीं हुईं। आज हरि-गुरु-वैष्णवोंकी सेवाके लिए ऐसे बुरे कामके करनेसे चाहे नरक ही क्यों न हो, हरि-गुरु-वैष्णव प्रसन्न तो होंगे। अपनी इन्द्रियोंको सुख देनेकी इच्छाका नाम ही 'काम' है, किन्तु कृष्णकी इन्द्रियोंको सुखी करनेकी इच्छाको 'प्रेम' कहते हैं। कलिघ्न नामक एक महाभागवतने चोरी करके भगवान्‌की सेवाकी थी। तिरुमङ्गाई अलवरने डकैती द्वारा रुपये छीन कर भी अपने इष्टदेव रङ्गनाथका श्रीमन्दिर बनवाया था। अतएव मैं भी गुरु और वैष्णवोंकी सेवा न छोड़ूँगी, भले ही नरक क्यों न जाऊँ। ऐसा सोचकर लक्ष्मीदेवी उस धनी बनियेके पास गईं और आनेवाली रातमें उसकी मनोवासना पूर्ण करनेका वादा किया।

बनिए के बहुत अनुरोध करने और तरह-तरहके लोभ दिखाने पर भी जिसने इस बुरे कामको स्वीकार नहीं किया, आज वही अपने आप उसके पास आई है—यह देखकर बनिया आनन्द से अधीर हो उठा। लक्ष्मीदेवीने जैसे ही अपने गुरु और वैष्णवोंके आतिथ्य सत्कारके लिए सामानकी बात मुँह से निकाली, वरदाचार्यकी कुटीके दरवाजेपर ढेर-के-ढेर चावल, दाल, दूध, दही, घी, चीनी आदि तरह-तरहकी चीजें पहुँचने लगीं। लक्ष्मीदेवीने जल्दीसे रसोई बनाकर भगवान्‌को नैवेद्य लगाया और उसे गुरु तथा वैष्णवोंके सामने धर दिया। सबने प्रसन्न होकर प्रसादका सम्मान किया और साथ ही साथ दरिद्रके घर प्रसादका इतना बड़ा आयोजन देख वे विस्मित

भी हुए। इधर लक्ष्मीदेवीके पति भिक्षासे लौटे। वे अपने गुरुदेव और गुरुभाइयोंको अपनी कुटीमें देख बड़े ही आनन्दित हुए और उनकी सेवा करनेके लिए घबरा उठे। वैष्णवोंने कहा कि वे सभी लोग बड़े सन्तोषके साथ प्रसादका भोजन कर चुके हैं। यह सुनकर वरदाचार्य बहुत ही विस्मित हुए और घरमें जाकर सहधर्मिणीसे पूछने लगे। लक्ष्मीदेवीने विनीत भावसे किन्तु डरते-डरते बनिएके आगे अपने वादेकी बात कह दी।

"लक्ष्मी, तूही यथार्थ सहधर्मिणी है।" वरदाचार्य आनन्दसे नाच उठे। "आज मैं धन्य हुआ। मैं इतने दिनसे समझता था, कि शायद तुम मेरे इस हाड़-मांसके थैलेको ही पति समझती हो, किन्तु आज समझा कि तुम्हारे ऊपर गुरु-कृपा पूर्णरूपसे बरस चुकी है, तुम्हारा सम्बन्ध-ज्ञान उदित हुआ है, तुम यह समझ गई हो, कि एक मात्र नारायण ही पति हैं और बाकी सभी जीवप्रकृति। अतएव आज तुमने कुत्तोंकी और सियालोंकी खूराक बननेवाली इस देहके बदले जिस परम पतिकी सेवाकी है, उसे याद कर बार-बार आनन्दित हो रहा हूँ।" धीरे-धीरे श्रीरामानुज और वैष्णवोंको भी लक्ष्मीदेवी के इस सेवाकी बातें सुनाई दीं, वे भी बड़े विस्मित हुए।

श्रीरामानुजने उस दम्पतीसे कहा कि तुम दोनों उस बनियेके घर जाकर उसे कुछ महाप्रसाद दे आओ। वे दोनों बनियेके यहाँ महाप्रसाद लेकर गये। वरदाचार्य बाहर खड़े रहे। लक्ष्मीने बनियेके पास जाकर महाप्रसाद दिया। लक्ष्मीदेवीके अनुरोधसे बनिया रामानुजका उच्छिष्ट खाने लगा। जाने क्या वैष्णव उच्छिष्टका प्रभाव है, जिससे प्रसाद खाते ही बनियेका मन पलट गया। उसे पश्चाताप होने लगा कि हाय, उसने किस पर ऐसी बुरी निगाह की है। उसने अत्यन्त दीनतासे कहा—"देवी, आप परम वैष्णवी हैं, आपके नारायण-अर्पित शरीरको मैंने भोगकरनेकी कामनाकी थी। मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है। मुझे क्षमा करो। मैं भी तुम्हारे गुरुदेवकी शरण लेना चाहता हूँ। वैष्णवलोग तो अदोषदर्शी होते हैं, क्या वे मुझपर कृपा न करेंगे?"

सतीने स्वामीके पास लौटकर सारी बातें कहीं और फिर दोनोंने घर लौटकर श्रीगुरुदेवके चरणोंमें भी सब निवेदन किया। पतित-पावन श्रीरामानुजाचार्य ने बनियेको बहुतही लज्जित देखकर दीक्षा प्रदानकी। बनियेने श्रीगुरुदेवके आगे उस वैष्णव-दम्पतीको कुछ धन देनेकी इच्छा प्रकटकी। यह सुनकर वरदाचार्यने गुरुदेवसे बहुत ही विनीत भावसे कहा—"प्रभो, ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मैं अधम,हरि-गुरु.वैष्णव-की सेवाके अधिकारसे विच्युत न हो जाऊँ। प्रभो, धन, जन या प्रतिष्ठा आदिसे मेरा चित्त आपके चरण-युगलकी सेवासे हट न जाये।"

रामानुजने वरदाचार्यका ऐसा भाव समझकर बनियेसे कहा—"तुम जिसे दुःखी समझ रहे हो, वे भगवान्के अति प्रिय भक्त हैं। भजनपरायण भक्तोंको दारिद्र, रोगी तथा दीन-हीन देखकर साधारण विचार से लोग उन्हें दुःखी समझते हैं, किन्तु भगवान्की इच्छासे आया हुआ जानकर उन दुःखोंको वे परमानन्द सुख मानते हैं। विषयी लोग विद्या धन और उच्च-कुलके मिथ्या अहंकारसे इस तथ्यको समझ नहीं पाते। इस तरह वे वैष्णवोंको पहिचाननेमें भी असमर्थ होते हैं। भक्त भक्ति-धनसे धनी होता है। जागतिक धन-सम्पत्ति उसको सुख नहीं दे सकती।"

इधर रामानुजके धनाढ्य शिष्य यज्ञेश श्रीगुरु की सेवा न कर सकनेसे बड़े दुःखी हुए। वे वरदाचार्यके घर आकर गुरुदेवसे अपने हृदयका सारा दुःख निवेदन किया। श्रीरामानुजने यज्ञेशसे कहा,—'तुमने वैष्णव-अपराध किया है, इसीसे मैं तुम्हारे घर अतिथि नहीं हुआ। तुम अपने गुरु-भाइयोंका स्वागत किये बिना ही अन्तः पुरमें चले गये।"

यज्ञेशने आँखोंमें आँसू भरकर कहा,—"प्रभो आपके शुभागमन का समाचार सुनकर मैं आनन्दसे अधीर हो आपके स्वागतकी तैयारी करने लगा था इसीलिए बाहर बैठे गुरु भाइयोंका ध्यान मुझे तनिक भी न रहा।"

रामानुजाचार्यने गम्भीर होकर कहा,—"आनन्दसे विह्वल हो जाना कोई सेवा नहीं है। जहाँ अपने सुख की लेशमात्र भी इच्छा होती है, वहाँ सेवा नहीं,—

भोगकी कामना होती है। सेवामें सिर्फ अपने इष्ट-देवके सुखकी कामना रहती है। और वैष्णवोंको अलग करके भी गुरुसेवा नहीं होती। वैष्णव या गुरु-सेवक श्रीगुरुदेवके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। अतएव तुमने जो "अर्द्ध कुक्कुटी न्याय" (क) का अवलम्बन कर वैष्णवोंका सम्मान नहीं किया, केवल मेरी चिन्तासे विह्वल हो उठे, इसीसे तुमसे वैष्णव अपराध हुआ है। अतः मैं तुम्हारे घर नहीं गया।"

यज्ञेश श्रीगुरुदेव और वैष्णवोंके चरणोंमें गिर पड़े और बार-बार अपने अपराधको स्वीकार कर रोने और क्षमा मांगने लगे। श्रीरामानुजचार्यने कृपाकर यज्ञेशके घर भी आतिथ्य ग्रहण करना स्वीकार कर लिया। सद्गुरु और शरणागत शिष्यका व्यवहार ऐसा ही होता है। सद्गुरु धन, कुल और विद्या नहीं देखते, सेवाकी प्रवृत्ति देखते हैं। वे सद्गुरुकी सेवा तथा भोग और मोक्षका पार्थक्य बताते हैं। सद्गुरु शिष्यको पतित बनाकर पतित-पावन नाम धारण नहीं करते, वरन् शिष्यको सचमुच ही पावन करते हैं। सद्गुरु निष्किञ्चन और निरपेक्ष होते हैं, वे शिष्यके अन्याय आचरणपर ध्यान नहीं देते।

गीताकी वाणी

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या ६, पृष्ठ १३८ से आगे]

जीव भगवान्‌का विभिन्नांश तत्त्व है। अतएव जीव भी भगवान की तरह स्वतंत्र है, इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग या सदुपयोग करनेकी स्वाधीनता भी जीवमें वर्त्तमान रहती है। अपनी बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानका अवलम्बन कर जीव जब अपने विचारोंको प्रकट करनेकी चेष्टा करता है, वही उसके स्वतंत्रताका अपव्यवहार करना है। दूसरी तरफ, भगवत्-तत्त्वको जाननेवाले साधुओंके आनुगत्यमें वस्तुका विचार तथा उसे जाननेकी चेष्टा ही स्वतंत्रताका सद्व्यवहार है। उपनिषद् कहते हैं —

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमानाः।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

(कठ-१।२।५)

मायाका दूसरा नाम अविद्या है। इसी अविद्याके भीतर स्थित होकर भी वे मूर्ख (जीव) पाण्डित्यके मिथ्याभिमानमें अपने आपको बुद्धिमान और विद्वान् समझते हैं तथा दूसरोंको उपदेश देते हैं। ऐसे मायाबद्ध मूढ़ जीव नाना योनियोंमें चारों ओर भटकते हुए नाना-प्रकारके कष्ट भोगते हैं। जब अन्धे मनुष्यको मार्ग दिखलानेवाला भी अन्धा ही मिल जाता है, तब जैसे वे दोनों ही अपने लक्ष्य तक न पहुँच कर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं, वैसे ही जो मनुष्य अज्ञान-समुद्रमें स्वयं डूबा हुआ है, किन्तु दूसरे मूर्ख व्यक्तिको ज्ञान उपदेश देता है तो वे दोनों ही अज्ञान समुद्रमें डूब मरेंगे--यह तो एक स्वाभाविक और सीधी बात है; इसे एक छोटा सा बालक भी आसानीसे समझ सकता है। किन्तु अविद्यामग्न जीव अपनी मूर्खता स्वीकार करना नहीं चाहता। खासकर, भगवान्‌की माया ऐसी मोहिनी है कि हम अपनी मूर्खता स्वीकार करना तो दूर रहे, अपनी बुद्धिमत्ताकी बड़ाई करनेमें ही अधिक व्यग्र रहते हैं। मैं ही सबसे अधिक समझदार हूँ—ऐसा अहंकार ही मायाकी विडम्बना है। अगर एक व्यक्ति—जो हमसे अधिक विचार-सम्पन्न है—हमारी युक्तियों और विचारोंका खण्डन कर देता है, तब हम बाह्यतः अपनी भूल स्वीकार करनेके लिए बाध्य

(क) 'अर्द्ध कुक्कुटी न्याय'–'अर्द्ध जरती न्याय' अर्थात् मुर्गीका आधा भाग युवा और आधा भाग वृद्ध है–यह प्रमाण अत्यन्त अग्राह्य है। वैसे ही इस न्यायका अवलम्बन कर गुरु और शिष्यमें भेद मानकर गुरुका सम्मान और शिष्यका निरादर करना---पाषण्डता है।

होते हैं, किन्तु यथार्थमें आन्तरिकताके साथ स्वीकार नहीं करते। अक्षज (इन्द्रियोंसे उत्पन्न) ज्ञानका अवलम्बनकर अधोक्षज अर्थात् अतिन्द्रिय वस्तुको समझना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण यह है कि जिस वस्तुको आँखों द्वारा देखा नहीं जाता, कानोंमें जिसकी वाणी प्रवेश तक नहीं करती, केवल मात्र अनुमानसे उस वस्तुका विचार कैसे सम्भव हो सकता है ? इसीलिए शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका सहारा छोड़ कर भगवत् तत्त्वज्ञ व्यक्तियोंकी शरणमें जानेके लिए ही उपदेश दिया गया है।

अधिकांश लोग गीताके प्रथम अंशका अध्ययन कर कर्मयोगको ही चरम सिद्धान्तके रूपमें मानते हैं; किन्तु शास्त्रका कहना है—

उपक्रमोप संहरावभ्यासोऽपूर्व्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ति च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छः किसी भी विषयके उद्देश्य निर्णायक चिन्ह हैं। वेदान्तके मध्वभाष्यमें इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया गया है—"उपक्रमोपसंहारयोरैकरूपत्वं, अभ्यासः=पौनः पुण्यं, अपूर्वता फलम्=अनधिगमत्वं फलम्, अर्थवादः=प्रशंसा, उपपत्तिः=युक्तिमत्त्वंच इति,—षड्विधानि तात्पर्य लिंगानि।"

शास्त्रकार जिस विषयका वर्णन करना चाहते हैं, उसके विषयमें प्रारम्भ और शेषमें एक ही विचार दिखलाते हैं उसका पुनः पुनः विचार करते हैं, उस विषयका फल क्या है। उसका वर्णन करते हैं, उस विचारकी बार-बार प्रशंसा करते हैं और उस विचार के स्थापनके लिए युक्तियाँ प्रदर्शन करते हैं। इस धाराका अवलम्बन कर विचार करनेसे हम देखते हैं कि अर्जुनके "शाधि मां त्वां प्रपन्नं" कह कर भगवान् कृष्णके शरणागत होनेपर कृपालु भगवान् गीताका उपदेश आरम्भ करते हैं, फिर उपसंहारमें भी—गीताके अन्तिम श्लोकमें "मामेकं शरणं व्रज" द्वारा अर्जुनको शरण लेनेके लिए ही उपदेश कर रहे हैं। शरणागत नहीं होनेसे सेवा करनेका सुयोग नहीं मिलता। दूर रह कर कभी भी सेवा नहीं हो सकती। सेव्य-वस्तु ऊपर आकाशमें रहे और सेवक नीचे मर्त्यलोकमें रहे, तो किसी प्रकार भी सेवा होने की सम्भावना नहीं है। अतः शरणागत जीव ही सेवा—भगवद्भक्ति कर सकते हैं। इसी भक्तिका विषय गीतामें पुनः पुनः वर्णन किया गया है। सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्याय तक नाना प्रकारसे भक्तिकी बात कह कर, सब के अन्तमें उसको ही पुनः दुहराया गया है। और इसी भक्तिका आचरण करने से भगवान् अवश्य ही अपनेको सम्पूर्ण रूपसे भक्तको दान दे देते हैं—यह उनकी अपनी प्रतिज्ञा है। कर्म, योग, ज्ञानादिकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता स्थापन द्वारा उपपत्ति अर्थात् युक्ति दिखलाये हैं। "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" द्वारा भक्तिकी श्रेष्ठता और साथ-ही-साथ अन्यान्य साधनोंकी हेयता प्रतिपादन किये हैं।

श्रीमद्भागवतकी चतुःश्लोकीकी तरह गीतामें भी चतुःश्लोकी है। गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने उसे प्रकाशित किया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।८—११)

ऊपरके इन चार श्लोकोंमें सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन तत्वका वर्णन किया गया है। श्रीभक्तिविनोद ठाकुरजीने इन श्लोकोंका रसिकरंजन भाष्यमें जैसे लिखा है उसे यहाँ नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

अप्राकृत और प्राकृत सकल वस्तुओंका उत्पत्ति स्थान मुझको जानो। मैं ही सबके उत्पत्तिका कारण हूँ। जो लोग ऐसा जानकर भाव समन्वित होकर अर्थात् शुद्ध भक्ति द्वारा मेरा भजन करते हैं, वे ही पण्डित हैं, दूसरे सभी अपण्डित हैं (८)। ऐसे अनन्य भक्तोंका चरित्र इस प्रकार होता है,—वे मुझमें अपने चित्त

और प्राणोंको सम्पूर्ण रूपमें समर्पण करते हुए परस्पर भाव विनिमय और हरिकथाका कथोपकथन किया करते हैं। उसी प्रकार श्रवण और कीर्त्तन द्वारा साधनकी अवस्थामें भक्ति-सुख और साध्यावस्थामें अर्थात् भगवत्-प्रेम लाभ करनेपर मेरे साथ रागमार्ग द्वारा (प्रेम-भक्तिसे) व्रजरसके अन्तर्गत मधुर रस तकका सम्भोग करते हुए वे रमण-सुख लाभ किया करते हैं (९)। नित्य भक्तियोग द्वारा जो प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उनके शुद्धज्ञानसे उत्पन्न विमल प्रेममें योगदान करता हूँ अथवा उन्हें विमल प्रेम-योग दान करता हूँ। वे उसके द्वारा मेरे परमानन्द धामको प्राप्त होते हैं। ऐसे भक्तियोगका आचरण करनेवाले भक्तोंके हृदयमें अज्ञान नहीं रह सकता है। बहुतेरे ऐसा सोचते हैं कि—"जो लोग 'अतत्'—का निरसन करते हुए (नेति नेति करते हुए) 'तत्'—वस्तुका अनुसंधान करते है, वे ही यथार्थ ज्ञान लाभ करते हैं; केवल भक्तिभावका अनुशीलन करनेसे वह दुर्लभ ज्ञान नहीं पाया जाता।" हे अर्जुन ! हमारे कहनेका मूल तात्पर्य यह है कि क्षुद्र जीव अपनी बुद्धिसे कभी भी असीम तत्त्वका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता—जितना भी प्रयत्न क्यों न करे वह किसी तरह भी विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ, अगर मैं कृपा करूँ तो मेरी अचिन्त्य शक्तिके बलसे क्षुद्र जीवको अनायास ही संपूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। जो मेरे एकांत भक्त हैं वे अनायास मुझे आत्मभावस्थ कर मेरे अलौकिक ज्ञान रूप दीपकके द्वारा आलोकित होते हैं। मैं कृपापूर्वक उनके हृदयमें वास करता हुआ उनके विषयोंमें प्रीतिके कारण अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको सम्पूर्ण रूपसे नाशकर देता हूँ। भक्तिके अनुशीलनसे ही जीवोंका शुद्ध-ज्ञानमें अधिकार होता है, तर्क द्वारा नहीं (११)।

पूर्वोक्त उपक्रम-उपसंहार आदिके अतिरिक्त एक लौकिक उदाहरण भी दिया जासकता है---एक आदमी किसी जगह बैठकर कह रहा है कि 'राम चोर नहीं हैं।' एक पथिक निकटके रास्तेसे शीघ्रता पूर्वक जा रहा है। उसके कानोंमें केवल 'राम' यह शब्द आता है, किन्तु पूरी बात न सुननेके पहले ही वह आगे बढ़ जाता है। एक दूसरा व्यक्ति भी ठीक पहले व्यक्तिकी तरह उसी रास्तेसे जा रहा है, वह केवल दो शब्दोंको अर्थात् 'राम चोर' सुनकर आगे बढ़ जाता है; वह रामको चोर समझकर विरुद्ध भाव पोषण करता है। एक तीसरा पथिक भी उन्हींके पीछे जाते हुए पूरी बात सुनकर वक्ताके कथनका पूर्णभाव समझ लेता है कि राम चोर नहीं हैं, किन्तु पिछले दोनों पथिक वक्ताके यथार्थ भाव समझनेमें असमर्थ होते हैं। वैसे ही जो गीताके समस्त अध्यायोंका अध्ययन करते हैं और तत्त्वज्ञानीके निकट उसे समझने-बूझनेकी चेष्टा करते हैं, वे ही गीताके प्रकृत तात्पर्यको जाननेमें समर्थ हो सकते हैं, अन्यथा भूल धारणाओंके वशमें होकर नाना प्रकारकी समस्याओंके उलझनमें पड़कर अपने मस्तिष्कको विकृत कर लेते हैं।

नीचे सुप्रसिद्ध गौड़ीय वैष्णवाचार्य ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्ति विनोद ठाकुर महोदय द्वारा लिखित गीताकी अवतरणिकाका कुछ अंश उद्धृत करनेका लोभ छोड़ न सका—

गीतापाठकोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है, पहली श्रेणीका नाम स्थूलदर्शी और दूसरी श्रेणीका सूक्ष्मदर्शी है।

स्थूलदर्शी पाठक केवल वाक्योंके बाहरी अर्थको लेकर ही अपना सिद्धान्त बनाता है, किन्तु सूक्ष्मदर्शी पाठक शास्त्रोंके तात्त्विक अर्थकी खोज करता है। स्थूलदर्शी पाठक गीताका आद्योपान्त पाठकर सिद्धान्त करता है कि वर्णाश्रमके लिये जिन कर्मोंका विधान किया गया है वे नित्य हैं। अतएव वर्णाश्रम-विहित कर्मोंका आचरण करना ही गीताका तात्पर्य है।

सूक्ष्मदर्शी पाठक ऐसे जड़ीय सिद्धान्तोंसे सन्तुष्ट नहीं होते, वे या तो ब्रह्मज्ञान अथवा पराभक्तिको ही गीताका एकमात्र तात्पर्य स्थिर करते हैं। उनका कहना है कि अर्जुनका युद्ध करना केवल अधिकारके अनुसार निष्ठाका ही निदर्शन है; वह गीताका चरम उद्देश्य नहीं है। मानव अपने-अपने स्वभावानुसार कर्मोंका अधिकार प्राप्त करता है और अपने अधिकारके अनुसार कर्मोंका आचरणपूर्वक जीवन-यात्रा

निर्वाह करते-करते तत्त्वज्ञान लाभ करता है। कर्मका आश्रय नहीं करनेसे जीवन-यात्राका सुचारु रूपसे निर्वाह नहीं होता है। जीवन-यात्रा सुन्दर रूपसे निर्वाहित न होनेसे तत्त्व-दर्शन भी सुलभ नहीं होता। अतएव तत्त्वलाभ करनेके सम्बन्धमें—कर्म और वर्ण-धर्मका एक सुदूरवर्त्ती सम्बन्ध है। जीवोंकी जब तक बन्धनसे मुक्ति नहीं होती, तब तक यह सम्बन्ध अपरिहार्य होता है। अर्जुनके स्वभावके अनुसार युद्ध-रूप क्षत्रिय-धर्मका पालन करना ही उनका प्रधान कर्त्तव्य है। इसलिये गीताका श्रवण कर अर्जुनके युद्ध अङ्गीकार करनेसे यह स्थिर होता है कि ब्रह्म-स्वभाव वाले व्यक्ति गीताका श्रवणकर उद्धवकी तरह प्रव्रज्या—संन्यास स्वीकार करेंगे और क्षात्र-स्वभाव वाले व्यक्ति अर्जुनकी तरह—क्षात्र-वृत्ति। अतएव जिस व्यक्तिका जैसा स्वभाव है उसी स्वभावके अनुसार उसका अधिकार होता है; उस अधिकारके लिये निर्दिष्ट, जीवन-यात्रा निर्वाहके उपयोगी कर्मोंको स्वीकार करते हुए परतत्त्वका अनुसंधान करना कर्त्तव्य है। यही गीताका परम गूढ़ तात्पर्य है। इसीसे श्रेयकी प्राप्ति हो सकती है। अधिकारका परित्याग करनेसे बद्धजीवोंके लिये परतत्त्व लाभ करनेकी कोई सम्भावना नहीं है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि—"अर्जुन तो परम वैष्णव थे। तब परम वैष्णव होते हुए भी क्या वे ब्रह्मस्वभाव सम्पन्न नहीं थे?" इसका उत्तर यह है कि—"अर्जुन युक्तात्मा तो हैं, किन्तु भगवान्‌के प्रपञ्चमें अवतीर्ण होनेके समय उनकी लीला-पुष्टिके लिये वे क्षात्र-स्वभावको स्वीकार कर अवतीर्ण हुए थे। उनका तात्कालिक-स्वभाव क्षत्रिय-स्वभाव था। इस स्वभावको लक्ष्य कर ही भगवान्‌ने जगत्‌में अधिकार तत्त्वके ज्ञानकी शिक्षा दी है"—इतना ही समझना होगा।

सरल बुद्धि द्वारा विचार करनेसे जीवोंकी जड़-बद्ध अवस्था अत्यन्त सोचनीय प्रतीत होती है। इस सोचनीय अवस्थासे मुक्त होकर किसी मङ्गलमय विशुद्ध अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये कोई उपाय अवलम्बन करना उचित जान पड़ता है। उसी विशुद्ध अवस्थाको 'उपेय' या 'प्रयोजन' कहते हैं। जिससे वह विशुद्ध अवस्था प्राप्तकी जाय उसे 'उपाय' कहते हैं शास्त्रकारोंमें किसीने यज्ञको, किसीने योग-को, किसीने पुण्यको, किसीने वैराग्यको, किसीने तपस्याको, किसीने धर्मयुद्धको, किसीने ईश्वर उपासना-को, किसीने धर्मको, किसीने गुरु-सेवाको, किसीने प्रायश्चित्तको और किसीने दानको (प्रयोजन प्राप्तिका) 'उपाय' स्थिर किया है। इस प्रकार नाना नामों द्वारा अवैज्ञानिक रूपसे कहे गये उपाय-तत्त्वकी संख्या अनगिनत हो उठी। कुछ समयबाद इस विषयमें विज्ञानके हस्तक्षेप करनेसे उनकी संख्या घट गई। पीछे देखा गया कि ये सकल उपाय भिन्न-भिन्न तीन तत्त्वोंके आधीन हैं, ये तीनों तत्त्व—कर्म, ज्ञान और भक्ति हैं।

स्वतः सिद्ध आत्मप्रत्यय (आत्म-विश्वास या प्रमाण) और विशुद्ध विचार द्वारा यह निर्णय किया गया है कि जीवोंकी सिद्ध-सत्ता—चिन्मयी है। माताके गर्भसे जो उत्पत्ति होती है वह केवल उस सिद्ध सत्ताकी (आत्माकी) जड़-बद्ध दशामात्र है। अचिन्त्य और अतर्क्य शक्ति भगवान्‌की इच्छाके अतिरिक्त चिन्मय तत्त्वके जड़सम्बन्ध—जड़ग्रन्थिके लिये दूसरा हेतु नहीं; वह ससीम मानव-बुद्धिके सीमाके अन्तर्गत नहीं है। अतएव दोनों दशाओंके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं—मुक्त और बद्ध। मुक्तजीव दो प्रकारके हैं—(१) कोई-कोई जीव जो कभी भी मायाबद्ध नहीं हुए हैं वे नित्यमुक्त हैं और (२) कोई-कोई जीव जो बद्धावस्थासे मुक्तिलाभ किये हुए हैं। उन्हें बन्धन-मुक्त जीव कहते हैं। उभय प्रकारके मुक्त जीव शास्त्रोंसे परे होते हैं। कर्म-ज्ञान और भक्तिका जो पार्थक्य बद्ध जीवोंमें दिखाई पड़ता है वह मुक्त जीवोंमें नहीं होता। कर्म और ज्ञान—ये केवल प्रेम-भक्तिकी उपाधियाँ हैं; ये उपाधियाँ जिस जीवके प्रेमरूप नित्य धर्मको स्पर्श करती हैं उसीकी बद्धावस्था होती है। बद्धावस्थामें भगवत्-बहिर्मुखता रूप उपाधि द्वारा जीवोंकी प्रेम-वृत्ति विकृत होकर धर्म (कर्म) का आकार धारण करती है और कहीं-कहीं पर ज्ञानरूपमें भी प्रकाशित होती है। साधन भक्ति उसी वृत्तिका तीसरा आकार है। इनमें साधन-भक्ति का आकार ही बद्ध जीवोंके स्वास्थ्यका लक्षण है और

शेष दोनों जड़ सम्बन्ध द्वारा कष्ट पानेके लक्षण हैं।

जबतक शरीर है तबतक कर्म अपरिहार्य है शरीर-यात्रा निर्वाह करनेके लिये जिन कर्मोंको किया जाता है, उनमें जो कर्म जगत्के लिये अमङ्गलजनक होते हैं उन्हें विकर्म या कुकर्म कहते हैं; मङ्गलजनक कर्मोंको न करना ही अकर्म है और जिन कर्मोंसे जगत्का मङ्गल होता है उन्हें कर्म कहते हैं। कर्म चार प्रकारके होते है--(१) शारीरिक, (२) मानसिक (३)सामाजिक(४)आध्यात्मिक। प्रत्येक कर्मोंका एक-एक अवांतर(गौण)फल होता है। जैसे-भोजन करनेका फल है--शरीर पोषण और विवाह करनेका सन्तानोत्पत्ति-अवांतर फल सहज ही लक्षित होता है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे शांति ही इन समस्त फलोंका सर्वोच्च फल है। विज्ञानको थोड़ा और दूर बढ़ानेसे देखा जायगा कि मायिक सुख-दुःखसे क्रमशः मुक्त होकर भगवान्के चरणोंकी सेवा प्राप्त करना ही परम शांति है। आहार, विहार, व्यायाम, शयन और शौचादि शरीर-पालक कर्म, यज्ञ, व्रत और अष्टाङ्ग-योगादि नाना प्रकारके सामाजिक, शारीरिक और मानसिक कर्मोंका उपदेश दिया गया है। अष्टाङ्ग-योगमें यम, नियम, आसन और प्राणायाम--ये चार शरीर सम्बन्धी 'शारीर' योग हैं, प्रत्याहार (इन्द्रिय-निग्रह), ध्यान, धारणा—ये 'मानस' योग हैं और समाधि-आध्यात्मिक योग है। इनके समुदायको ही शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कर्म कहते हैं। * * * * अष्टाङ्ग योग-शास्त्रके विभूतिपादमें नाना प्रकारके ऐश्वर्योंको भोगोंका अवांतर फलके रूपमें वर्णन करने के बाद कैवल्यपादमें केवल 'शांतिको' ही इनका फल विवेचन किया गया है। समस्त कर्म ही प्रारम्भमें सुख-भोग देनेकी प्रतिज्ञा करते हैं,किन्तु अंतमें समस्त विषय-सुखोंकी अनित्यता दिखलाकर कैवल्यादि शांति सुखको ही श्रेष्ठ बतलाकर उसके प्रति साधकका लक्ष्य स्थिर करवाते हैं, कैवल्य-शांति—मुक्ति (सुख भोग) की अपेक्षा श्रेष्ठ होनेपर भी दुःखोंका अभावमात्र है, स्वयं सुखस्वरूप नहीं है अर्थात् कैवल्यशांतिमें दुःखों का अभाव तो रहता ही है, सुख या आनंदका भी उसमें अभाव होता है। फिर किसी तरह ब्रह्मज्ञानरूप सिद्धावस्थाकी खोज पाई जाती है। अभेद ब्रह्मसुख तक सभी अवांतर फलोंको पाकर जब भगवत्-सेवा सुख दिखाई पड़ता है तब कर्म भक्तिके रूपमें बदल जाता है। अतएव भक्ति ही जीवोंके कर्मफलोंका सर्वोच्च उद्देश्य है। * * * *

जैसे जड़-यंत्र द्वारा किये गये कार्य ज्ञान-शून्य होते हैं, मनुष्योंके द्वारा किये गये कर्म ज्ञान-शून्य नहीं होते। मनुष्य द्वारा किये गये कर्मोंमें ज्ञानकी सत्ता लक्षित होती है। उसी तरह मानवकी ज्ञान आलोचना भी कर्म-शून्य नहीं होती। आलोचना ही ज्ञानका जीवन है। यह आलोचना भी एक तरह का कर्म विशेष है। इसीलिए स्थूल-बुद्धि सम्पन्न व्यक्तियोंके निकट कर्म और ज्ञान एक जैसे प्रतीत होते हैं। तात्त्विक विचारसे कर्म और ज्ञानके स्वरूप अलग-अलग हैं। वैसे ही कार्यक्षेत्रमें कर्म और ज्ञानको भक्तिसे पृथक समझने पर भी तात्त्विक दृष्टि-से विचार करने पर कर्म और ज्ञानसे भक्तिका पार्थक्य सिद्ध होता है। निरुपाधिकी चिन्मयी प्रेम-सेवा ही भक्तिका सिद्ध स्वरूप है। * * * *

भक्ति दो तरहकी होती है—केवला और प्रधानीभूता। केवला भक्ति स्वतंत्र होती है उसमें कर्म और ज्ञानादिका सम्पूर्ण रूपसे अभाव होता है,इनका गन्ध भी उसमें नहीं होता। शास्त्रोंमें इसको ही निरुपाधिक प्रेम, निरुपाधिक सेवा, अनन्य भक्ति और अकिञ्चना भक्ति आदि कहा गया है। प्रधानीभूता भक्ति तीन प्रकार की होती है—(१) कर्मप्रधानीभूता (२) ज्ञानप्रधानी भूता (३) कर्मज्ञान प्रधानीभूता। जिस कर्म या ज्ञानमें भक्तिकी प्रधानता होती है और कर्म या ज्ञानका भक्तिके प्रति दासत्वभाव सूचित होता है उस कर्म या ज्ञानके साथ जो भक्ति-वृत्ति मिश्रित रहती है उसे प्रधानीभूता भक्ति कहते हैं। जिस कर्म या ज्ञानमें भक्तिकी प्रधानता नहीं होती अर्थात् कर्म या ज्ञानका ही प्रभुत्व सूचित होता है और भक्ति केवल दासीकी तरह कर्म या ज्ञानके आश्रित होती है उसी कर्मका नाम कर्म और ज्ञानका नाम ज्ञान है। ऐसे कर्म या ज्ञानको भक्तिकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। कर्म, ज्ञान और भक्तिका

परस्पर भिन्न-भिन्न स्वरूप है। अतएव तत्त्वोंके विचारसे कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्तिका अलग-अलग विवेचन किया गया है।

गीतामें अठारह अध्याय हैं। इसके पहले छः अध्यायोंमें 'कर्म' दूसरे छः अध्यायोंमें 'भक्ति' और तीसरे छः अध्यायोंमें 'ज्ञान' का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है और अन्तमें भक्तिकी ही श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। भक्ति अत्यन्त गूढ़ तत्त्व है, अथच ज्ञान और कर्मका जीवनस्वरूप और प्रयोजन साधक होनेके कारण ही भक्ति सम्बन्धी विचारोंको बीचके छः अध्यायोंमें सन्निविष्ट किया गया है।

इस प्रकार विशुद्ध भक्ति ही जीवोंका सर्वोच्च लक्ष्य है। यही कृष्णकी शिक्षा है; यही गीताकी वाणी है। गीताके अन्तमें "सर्वधर्मान् परित्यज्य" श्लोक द्वारा भगवान्‌की शरणागति ही "सर्व गुह्यतम्" उपदेश है —ऐसा निर्दिष्ट होता है।

(गीताके रसिकरञ्जन भाषाभाष्यकी अवतरणिकासे)

— त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद् भक्तिभूदेव श्रौति महाराज

८४ कोस ब्रज-मंडलकी परिक्रमा और ऊर्जव्रत

वैष्णवोंके लिए चातुर्मास्य व्रतका पालन करना एकान्त कर्त्तव्य है। श्रीमन्महाप्रभुने स्वयं आदरके साथ इस व्रतका पालन करके जगत्‌में इसकी शिक्षा दी है। विशेषकर चातुर्मास्यका अन्तिम मास अर्थात् कार्त्तिक मास सर्व-साधारणके लिए पालनीय है, क्योंकि कार्त्तिक व्रत (ऊर्ज-व्रत) का पालन करनेसे श्रीराधा-रानीकी विशेष कृपा पाई जाती है। यह व्रत घरपर रह कर पालन करना उचित नहीं है। शास्त्रमें किसी न किसी तीर्थ स्थानमें जाकर साधुओंके संगमें इस व्रतको पालन करनेका निर्देश दिया गया है—

प्रदक्षिणञ्च वै कुर्यात् कार्त्तिके विष्णुसद्मनि।
विष्णोः पूजा कथा विष्णोर्वैष्णवानाञ्च दर्शनम्॥

न गृहे कार्त्तिके कुर्याद्विशेषेण तु कार्त्तिकम्।
तीर्थे तु कार्त्तिकीं कुर्यात् सर्वयत्नेन भाविनी॥

(हरिभक्ति विलास)

अर्थात् कार्त्तिकके महीनेमें विष्णुके मन्दिरकी प्रदक्षिणा करनी चाहिए। इस महीनेमें विष्णुका पूजन, विष्णुकी कथाका श्रवण और वैष्णवोंका दर्शन अर्थात् सत्संग करना चाहिये। कार्त्तिकके महीनेमें विशेषकर "कार्त्तिक-व्रत" अपने घरपर रह कर पालन नहीं करना चाहिये; बल्कि परम आदरके साथ तीर्थस्थानोंमें पालन करना चाहिए।

उपरोक्त महाजनोंकी वाणी और सात्वत वैष्णव-स्मृति श्रीहरिभक्तिविलासके इन वचनोंको मस्तकपर धारण कर श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति प्रत्येक वर्ष कार्त्तिकके महीनेमें कार्त्तिक व्रतका पालन करनेके लिए भगवान् और भगवन् धामकी परिक्रमाकी व्यवस्था करती है। इससे देशवासियोंके पारमार्थिक कल्याण लाभ करनेमें बहुत ही सहायता मिलती है। इस वर्ष भी समितिके प्रतिष्ठापक और नियामक *परमहंस स्वामी ॐविष्णुपाद१०८श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव महाराजजी* ने गया, काशी, प्रयाग-तीर्थ और श्री ब्रजमण्डलकी विभिन्न लीला-स्थलियोंके—जहाँपर श्रीचैतन्यमहाप्रभुने प्रेममें विभोर होकर भ्रमण किया था—दर्शन और परिक्रमाका आयोजन कर श्रद्धालु जन-साधारणके लिए भक्ति-उन्मुखी सुकृति अर्जन करनेके लिए सुवर्ण सुयोग प्रदान किये थे।

सत्संगमें भगवद्भक्ति लाभ करनेका अपूर्व सुयोग

बहुतोंका कहना है कि क्या घरमें रहकर धर्म-कर्म नहीं किया जा सकता? इसके लिए तीर्थस्थानोंमें जानेकी आवश्यकता ही क्या है? शास्त्रने इसका उत्तर दिया है,—धर्म-कर्मका पालन सभी जगहोंमें किया जा सकता है, यह सत्य है किन्तु उन सभी स्थानोंमें सत्संगका होना उचित ही नहीं वरन् अनिवार्य है। सत्संगके अभावमें तीर्थ-भ्रमण तथा धर्म-कर्म सभी व्यर्थ हैं। अपनी चेष्टा या विद्याबुद्धिके द्वारा तत्त्व-वस्तुका सम्यक् ज्ञान कभी नहीं हो सकता। दण्डवत-प्रणाम-

पूर्वक अकृत्रिम सेवासे संतुष्ट करने पर तत्त्वोंकी जिज्ञासाके द्वारा साधु-संगसे भक्ति-वृत्ति उदित होती है। शुद्ध भक्तोंके मुखसे भागवान्‌की वीर्यवती कथाओंका श्रवण करनेसे जीवोंका वास्तविक कल्याण होता है। विषयमें फँसे हुए सांसारिक जीवोंको ऐसे सुयोग बहुत ही कम मिलते हैं। इसीलिए श्रीवेदान्त समिति द्वारा अन्यान्य उत्सवोंके अनुष्ठान किये जाने पर भी प्रत्येक वर्ष कार्त्तिक मासमें एक महीने तक सत्संगमें रहकर भगवत्-कथा श्रवण और कीर्त्तन करते हुए विभिन्न तीर्थ-स्थानोंके दर्शन और परिक्रमाका आयोजन किया जाता है।

इस वर्ष भी ८४ कोस श्रीव्रजमण्डलकी परिक्रमा विपुल समारोहके साथ सम्पन्न हुई है। भारतके विभिन्न स्थानोंसे श्रवण-पिपासु और धर्म-प्राण व्यक्तियोंने इसमें योगदान किया था। परिक्रमाका विस्तृत विवरण और श्रीआचार्यदेवके भाषणोंका सारांश अगली संख्याओंमें क्रमशः प्रकाशित किया जायगा।

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठमें अन्नकूटका विराट उत्सव

सर्वविदित है कि श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा श्रीमथुरा धाममें, कंसटीला मोहल्लेमें श्रीकेशवजी गौड़ीय मठकी स्थापना की गई है। गत १५ नवम्बर, मंगलवारको परमहंस स्वामी १०८ श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव महाराजके निर्देशानुसार यहाँ पर श्रीश्री गुरु-गान्धर्विका-गिरिधारीजीके अन्नकूट महोत्सव तथा श्रीगोवर्धन पूजाका अभूतपूर्व विराट आयोजन किया गया था।

श्रीगोवर्धन—हरिदासवर्य अर्थात् भगवान्‌के प्रधान सेवक हैं। गोवर्धनधारी और गोवर्धन एक ही वस्तु हैं। असमोर्द्ध-रूपसे कृष्ण-प्रीतिका निरन्तर नये-नये प्रकारसे वृद्धि करना ही—गोवर्धन है। इन्द्रकी तरह श्रेष्ठ देवदेवियोंकी पूजाकी अपेक्षा गोवर्धनकी पूजा करना ही जीवका श्रेष्ठ कर्त्तव्य है—यही भागवतकी शिक्षा है।

उसदिन मठाश्रित भक्त और महिलाओंने अपने-अपने देशोंके प्रचलित और रुचिप्रद नाना प्रकारके २५० तरहकी भोग-सामग्रियाँ प्रस्तुत किये थे। श्रीचैतन्यचरितामृत और चैतन्यभागवतमें लिखे गये श्रीगिरिधारी और श्रीमन्महाप्रभुके प्रिय खाद्य-पदार्थ यथासम्भव तैयार किये गये थे। श्रीगिरिधारी और श्रीमन्महाप्रभुके आगे नाना प्रकारकी विचित्र भोग-सामग्रियोंसे मठका सुसज्जित और सुविशाल नाट्य-मंदिर भरपूर होनेके कारण एक अपूर्व रमणीय दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा था। मथुराके स्थानीय अनेक उच्च-शिक्षित, प्रतिष्ठित और सम्भ्रान्त व्यक्तियोंने इस महोत्सवमें योगदान किया था।

श्रीमद्भागवतसे श्रीगोवर्धन-पूजाका प्रसंग पाठ होनेके बाद लगभग ३ बजे (दिन) श्रीश्रीगुरुगौराङ्ग गान्धर्विका-गिरिधारीकी विपुल जयध्वनिके बीच श्रीमंदिरका द्वार खोला गया। दर्शकोंकी अपार भीड़की हर्षध्वनिसे मठका विराट भवन गूँज उठा। सभी मुक्त-कण्ठसे अन्नकूट महोत्सवकी प्रशंसा करने लगे। उन लोगोंने एक स्वरसे कहा कि मथुरामें अन्नकूटका ऐसा अपूर्व और विराट महोत्सव कभी नहीं हुआ था। दिनके ३ बजेसे लेकर रातके १२ बजे तक निमंत्रित अथवा अनिमंत्रित नर-नारी—साधु और संन्यासी, अमीर और गरीब, दुःखी और कंगाल—सबको अन्नकूटका प्रसाद वितरण किया गया। कंगाली भोजनका दृश्य अपूर्व रहा। सबने अन्नकूटका दर्शनकर तथा महाप्रसादका सेवनकर अपनेको कृतार्थ समझे थे।

—प्रकाशक

जैन-धर्म

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या ६, पृष्ठ १४४ से आगे]

ये नित्य और नैमत्तिक कर्म सुचारु रूपसे जगत्में अनुष्ठित हो सकें, ऐसा विधान करनेके अभिप्रायसे शास्त्रकारोंने मनुष्यके स्वभाव और उनके स्वाभाविक अधिकारका विचार कर 'वर्णाश्रमके नामसे एक धर्मकी व्यवस्थाकी है' इस व्यवस्थाका अभिप्राय यह है, कि कर्मोंका अनुष्ठान करने योग्य मनुष्य स्वभावतः चार प्रकारके होते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये लोग जिन अवस्थाओंका अवलम्बन कर संसारमें अवस्थित होते हैं, वे चार प्रकारके हैं, उनका नाम आश्रम है। गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यास—ये चार आश्रम हैं। जिन्हें अकर्म और कुकर्म प्रिय हैं, वे अन्त्यज वर्ण और बिना आश्रमके हैं। वर्ण—स्वभाव, जन्म, क्रिया और लक्षण द्वारा निरूपित होता है। जहाँ केवल जन्मके द्वारा ही वर्ण निरूपित होता है, वहाँ तात्पर्य की हानि ही एक मात्र फल होता है। विवाहित अवस्था, अविवाहित अवस्था और स्त्रीसंगके त्यागके बाद वैराग्यकी अवस्थाके अनुसार आश्रम निर्दिष्ट हुए हैं। विवाहित अवस्था ही गृहस्थाश्रम है। अविवाहित अवस्था ब्रह्मचारीका आश्रम है, स्त्रीसंगसे विरक्त होनेकी अवस्था वानप्रस्थ और संन्यास है। संन्यास ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है और ब्राह्मणही सर्वश्रेष्ठ वर्ण है।

सर्वशास्त्र शिरोमणि श्रीमद्भागवत—शास्त्रमें (११।१७।१५–२१) ऐसा सिद्धान्त है,—

वर्णानामाश्रमाणाञ्च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥१५॥
शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्म प्रकृतयस्त्विमाः ॥१६॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१७॥
आस्तिक्यं दान-निष्ठा च अदम्भो ब्रह्म-सेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्य-प्रकृतयस्त्विमाः ॥१८॥
शुश्रूषणं द्विज-गवां देवानाञ्चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषं शूद्र-प्रकृतयस्त्विमाः ॥१९॥
अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्क-विग्रहः।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्त्यावसायिनाम् ॥२०॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमकाम-क्रोध-लोभता।
भूत-प्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्व-वर्णिकः ॥२१॥*

(क्रमशः)

---

*वर्ण तथा आश्रमके जन्मस्थानानुसार मनुष्य की नीच और उत्तम प्रकृति उत्पन्न हुई। पैर और जंघा नीच स्थान हैं, उनसे क्रमशः शूद्र वर्ण और गृहस्थाश्रमके उत्पन्न होनेसे शूद्र और गृहस्थकी नीच प्रकृति हुई ॥ १५ ॥

शम, दम, तपस्या, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, भगवान्में भक्ति, परदुःख कातरता, सत्य—यह सब ब्राह्मणोंकी प्रकृति है ॥ १६ ॥

प्रताप, बल, धैर्य, वीरत्व, सहिष्णुता, उदारता, उद्यम (चेष्टा) स्थैर्य तथा, ऐश्वर्य—यह सब क्षत्रियों का स्वभाव है ॥ १७ ॥

भगवान्में विश्वास, दाननिष्ठा, ब्राह्मण-सेवा, अर्थोपार्जनमें प्रयत्न—यह सब वैश्यका स्वभाव है ॥१८॥

देव, द्विज तथा गौ आदिकी अकपटरूपसे सेवा तथा गो-द्विज-देवकी शुश्रूषा द्वारा उपार्जित धनमें संतोष रखना—यह सब शूद्रों का स्वभाव है ॥१९॥

अपवित्रता, मिथ्या, चोरी, परलोकमें अविश्वास अनर्थक कलह, काम-क्रोध, असत् विषयोंमें लोभ—यह सब आश्रमभ्रष्ट अन्त्यजोंकी प्रकृति है ॥२०॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, काम-क्रोध-लोभ-शून्यता, सभी जीवोंका प्रिय तथा हित-चेष्टा—यह सभी वर्णोंका धर्म है ॥२१॥